सुमंत का दूसरा खत आते ही मैं और बाबूजी चल पड़े थे। वहां दोनों ही काम हो गए थे। लड़का भी तय हो गया था और मेरे तबादले की बात भी पक्की हो गई थी। बाबूजी ने काफी आनाकानी के बाद मेरा दिल्ली जाना मंजूर कर लिया था, इस शर्त के साथ कि अभी चित्रा उन लोगों के पास वहीं इलाहाबाद में रहेगी, ताकि वह घर में रस-बस जाए। लेकिन मैं जानता था कि यह होगा नहीं। चित्रा वहां अकेले रहना पसंद नहीं करेगी।

पांचवां महीना समाप्त होते-होते सरला की शादी हुई। सरला के पति की नौकरी अहमदाबाद में लग गई थी और शादी होते ही वह अपने पति के पास रहने चली गई थी। सरला की शादी के बाद घर की हालत बहुत नाजुक हो गई थी। रिटायर हो चुकने के बावजूद बाबूजी को मजबूरन कोई नौकरी खोजनी पड़ी थी, और इसमें मदद मिली थी सुमंत के बड़े भाई जयंत से। उन्होंने भोपाल में किसी ठेकेदार के पास ढाई सौ रुपये माहवार पर उन्हें लगवा दिया था और इस तरह हमारा आधा घर उखड़कर इलाहाबाद से भोपाल चला गया था। और कोई चारा भी नहीं था। मुझे कुल दो सौ मिलते थे, उसमें पूरे घर का गुजारा नहीं हो पाता था। उसके बाद मैंने फिर दौड़-भाग करके अपना तबादला दिल्ली करा ही लिया था। इलाहाबाद छूट गया था।

शुरू-शुरू में आकर मैं सुमंत के पास ही ठहरा था। और कोई ठिकाना नहीं था। सुमंत कुतुब रोड पर आराम नगर के एक निहायत गंदे कमरे में रहता था। सीलन-भरा वह कमरा पसीजता रहता था। उन दिनों वह किसी प्रेस से निकलनेवाली एक निहायत सस्ती-सी पत्रिका में काम करता था और जैसे-तैसे अपना खर्चा चलाता था।

पहली बार जब चित्रा आई तो उसी एक कमरे में हम तीनों को टिकना पड़ा। खाना वगैरह बनाने की जगह नहीं थी, पर चित्रा की वजह से अब होटलों या ढाबे में खाना मुमकिन नहीं था, इसलिए रोज़ खिचड़ी या पराठों का भोजन होने लगा। पहले दिन जब मैं चित्रा को लाया था तो कमरा और जगह देखकर वह बहुत उदास हो गई थी। उसका मुंह ही उतर गया था। फिर धीरे-धीरे उसने कमरे की सफाई वगैरह कर डाली थी।

जब भी मैं ड्यूटी से लौटता तो देखता कि सुमन और चित्रा साथ-साथ किसी काम में लगे हुए हैं। अगर वह खाना पका रही है तो सुमन बैठा सलाद ही बना रहा है। या सुमन दीवार में कोई कील गाड़ रहा है तो चित्रा उसका स्टूल पकड़े खड़ी है। खिड़कियों और दरवाज़े के लिए सुमन पर्दे का कपड़ा भी ले आया था और चित्रा ने सामने वाली दर्ज़िन से सिलवाकर, उन्हें सुतली में पिरोकर, टांग भी लिया था।

धीरे-धीरे चित्रा की उदासी उड़ती गई थी और वह उस गंदे कमरे में ही काफी खुश नज़र आने लगी थी। सुबह सबसे पहले चित्रा उठती थी, उसके बाद सुमन और उसके बाद मैं। मेरे उठने तक वे दोनों एक बार चाय बनाकर पी चुके होते और दिन-भर के काम का प्रोग्राम भी बना चुके होते थे।

चित्रा जिन दिनों आई थी, उन दिनों बारिश शुरू हो चुकी थी। बड़ी घनघोर बारिश हुई थी और हमारे कमरे की दीवारें नम हो गई थीं। सीमेंट जगह-जगह से उखड़ गया था, जिसकी वजह से उनमें से पानी रिसता था। [illegible] से दिमाग [illegible] लगता था। [illegible] घबराने लगता था और [illegible] बदबू फूटने लगी थी। बदबू [illegible] के लिए [illegible] ढेर-सा पाउडर छिड़क भी दिया, तो वह [illegible] ही [illegible] थी और कुछ ही

देर में शरीर चिपचिपाने लगता था। बड़ी बुरी हालत थी। गली में लेटना मुमकिन नहीं था, इसलिए हम तीनों ही नीचे जमीन पर जैसे-तैसे गुजारा कर लेते थे…

धीरे-धीरे उस कमरे और माहौल में मेरा दम घुटने लगा और हम तीनों ही अजनबियों की तरह पेश आने लगे। मेरे पास ऐसा कोई वक्त ही नहीं था, जिसमें मैं चित्रा से बात कर पाता। एकांत मिलना तो दुर्लभ हो ही गया था। शाम को कभी कमरे से बाहर निकलते तो ज्यादातर सुमंत साथ होता। वह न भी होता तो हम भीड़ के बीच होते—दूर एकांत में जा सकने की न हममें ताब होती और न जेब में इतने पैसे।

आखिर एक दिन घबराकर हम निकल ही पड़े थे। शाम रात में ढल रही थी और हम कनाट प्लेस से बस पकड़कर सेंट्रल सेक्रेटेरियट पर उतर पड़े थे। राजपथ पर पहुंचकर हमने जैसे मुक्ति की सांस ली थी। राजपथ के ऊपर आसमान की निरन्तर नीली पड़ती कोर सरकती आ रही थी और फांक की तरह कटा हुआ चमकता आसमान मुंदता जा रहा था। बिजली की वन्दनवार दूर इण्डिया गेट तक चली गई थी। हवा में ताजगी थी—महीनों बाद ऐसी मुक्ति का एहसास हुआ था। हम दोनों के जैसे पंख लग गए थे। मैंने चित्रा की कमर में हाथ डाल दिया था और चलते-चलते गुदगुदी घास पर पहुंच गए थे। घास पर हम दोनों ही लेट गए थे और मैंने उसकी बांह पर हाथ रख लिया था। नम घास हमें धीरे-धीरे असह्य लगने लगी थी और मैं उसकी कमर के गिर्द बांहें डालकर अधलेटा-सा हो गया था। चित्रा ने भरी-भरी आंखों से मुझे देखा था। उसकी आंखों में बल्बों के अक्स चिनगारियों की तरह फूट रहे थे। उसका शरीर हमेशा की तरह पसीज आया था और घास की भीगी महक के साथ उसके तन की

महक चारों ओर भर गई थी। उसके ओंठो से जैसे रस फूटने लगा था और ओठो तथा कानो की किनारियो से लौ-सी निकल रही थी। मैंने उसी मदहोशी मे उसके ओठो पर अपने ओंठ रख दिए थे कि किसी आहट ने हमें चौंका दिया था। चित्रा ने हडबड़ाकर अपनी साडी ठीक की थी और सिर पर खडे पुलिसमैन को देखते ही वह अचकचाकर उठी थी और चुपचाप नहर के किनारे पर जाकर खडी हो गई थी। यह उसके लिए एक नितान्त अपरिचित अनुभव था…मुझे लगा था कि वह बेतरह काप रही होगी, तभी उस पुलिसमैन ने आकर बड़े बेहूदे ढग से कहा था, "किधर से आया है आप लोग?"

"अपने घर से।" मैंने हकलाते हुए कहा था।

"ये लड़की कौन होता है तुम्हारा?"

"मेरी बीवी है—और कौन है…"

वह पुलिसमैन छोटी-सी व्यंग्यात्मक हंसी हसा था और बोला था, "उधर थाने में आइए, जरा…"

"क्यों?"

"उधर ही पता लगेगा—वो आपकी बीवी है ना?"

उसकी यह बात सुनकर मे तिलमिला उठा था।

"आपका मतलब क्या है?" मैंने जरा सख्ती से पूछा था।

"उधर सब पता लग जाएगा—चलिए…" वह पुलिसमैन कह ही रहा था कि एक चनेवाला आकर खड़ा हो गया था और अपने-आप ही मेरी पैरवी करने लगा था, "जवान लोग हैं हवलदार साहब…जाने भी दीजिए।"

"उधर दरोगा छोड़ देगा। वहा तक तो चलना ही पड़ेगा।"

तभी उस चनेवाले ने मुझे इशारा किया था कि मे उसे कुछ दू। यह मुझे निहायत अपमानजनक लग रहा और मैं भीतर ही भीतर जला जा रहा था। लेकिन कोई वस नही था। चित्रा शर्म की मारी टहलती-

टहलती नहर-किनारे दूर तक निकल गई थी। मैंने जेब से एक रुपया निकालकर उस पुलिसमैन 'की तरफ बढ़ा दिया था, पर उसने बड़ी हिकारत से उस रुपये को देखा था और फिर गुर्राया था—"आपको थाना चलना पड़ेगा।" कुछ दूर पर खड़े लोग हमारी तरफ कुछ-कुछ मुखातिब हो रहे थे कि मैंने जान बचाने के लिए दो रुपये और उसकी हथेली पर रख दिए थे और तब वह यह कहता हुआ चला गया था, "उधर टहलो···नहर के उस पार" और चनेवाले ने चलते-चलते कहा था—"मौज करो प्यारे !"

मैं भीतर ही भीतर तिलमिलाकर रह गया था। यह बेकार का दंड पड़ गया था। मुझे चित्रा पर भी गुस्सा आया था कि वह एकदम ऐसे उठकर चल दी थी कि जैसे उसका और मेरा कोई सम्बन्ध ही न हो··· जैसे वह मेरी पत्नी न होकर जान-पहचान की लड़की हो, जो सिर्फ इस शाम-भर के लिए मेरे साथ आई हो। उसके पास पहुंचते ही मैं बरस पड़ा था, "यह तुमने कैसी हरकत की ! खामख्वाह पुलिसवाले को शक हो गया।"

"तो मैं वहां कैसे···?" चित्रा ने रुआसे स्वर में कहा था।

"कैसे का क्या मतलब है?" मैं और भी बिगड़ उठा था और चित्रा बेहद अनमनी और उदास हो गई थी। काफी देर तक हम बिना बोले-चाले रोशनी के किनारे-किनारे टहलते रहे थे। भीतर का कुछ मूल्यवान मर गया था और हम एक-दूसरे को आमने-सामने देख सकने में अपने-आपको असमर्थ पा रहे थे।

उस एक घंटे के दौरान चित्रा ने मेरी ओर नहीं देखा था और मेरा ही जी उसे देखने को किया था। मेरे खयाल में वह अपमान और तीन रुपये उलझे हुए थे, जो मुझे निरंतर साल रहे थे।

आखिर हम बस में आकर बैठ गए—बिलकुल अपरिचित-से। इतने अपरिचित-से कि लगभग खाली बस में हमें एक ही सीट पर

देखकर शेष चार-पांच लोग मेरी बदतमीज़ी पर आंखें तरेर-सी रहे थे। कंडक्टर ने भी हमें संशय से देखा था। चित्रा खिड़की से चिपकी हुई बराबर बाहर ताक रही थी। मैंने दो टिकट लिए तब कहीं जाकर कंडक्टर का संशय दूर हुआ था।

मैंने एक बार फिर उन्हीं मदहोश नज़रों से चित्रा को देखा था, पर उसका बदन जैसे बिलकुल सूखा हुआ था। उसका रस कहीं भीतर समा गया था और वह बिलकुल अलग-थलग कटी-सी बैठी थी। स्पर्श भी अब उसे महसूस नहीं हो रहा था।

बस में बैठे-बैठे उस दिन मुझे पहली बार चित्रा से नफ़रत-सी हुई थी। मैंने कई बार गौर से उसे देखा था और तब मुझे एकाएक उसके शरीर का अनुपात और नक्श बहुत भोंडे-से लगे थे। पता नहीं, उसमें से क्या खो गया था...

बस से उतरकर कमरे की ओर चलते हुए मैं आंख बचाकर उसे ताकता रहा था—और एकाएक मुझे लगा कि मैं उसे नहीं चाहता। कमरे में पहुंचे थे, तो सुमंत मौजूद था। हमें गुमसुम देखकर उसने इतना ही कहा था—"क्या बहुत थक गए?"

"नहीं तो..." चित्रा ने जवाब दे दिया था और वहीं खड़े होकर साड़ी बदलने लगी थी। मेरे तन में आग-सी लग गई थी। सुमंत ने मेरी आंखों में धधकती आग को देखा था और वह कमरे से निकलकर नीचे गली में चला गया था। मैंने अपने को बहुत मुश्किल से साधा था। स्टूल पर बैठे-बैठे एकाएक मेरा मन भर आया था—यही सोचकर कि जैसा कुछ भी है, ठीक ही है...आखिर चित्रा इतनी कठिनाइयों में मेरे साथ गुज़ारा कर रही है। उसने आज तक मुझसे किसी चीज़ के लिए ज़िद नहीं की—अपनी किसी इच्छा को पूरा करने के लिए मजबूर नहीं किया और न अपना मन बिगाड़ा।...उसके प्रति मन कुछ-कुछ बदल ही रहा था कि उसने धीरे से कहा था :

"यहां रहना हो नहीं पाएगा···"

"क्यों ?"

"मेरा मन यहां नहीं लगता।"

"तो कहां जाना चाहती हो ?"

"जाने के लिए और जगह कहां है···" उसने जैसे अपने से ही कहा था और सीढ़ी उतरकर आंगन के गुसलखाने में चली गई थी। मैं चुपचाप अपनी जगह पर बैठा रहा था। अपने में घुटता हुआ। लगा था कि चित्रा के भीतर घुमड़ता हुआ धुआं अब निकला है।

जब भी मैं अकेला होता, हमेशा यही सोचता रहता कि ज़िन्दगी की यह गाड़ी इतने अनमनेपन से कैसे चलेगी ? इतने अलगाव और अजनबीपन से ज़िन्दगी का यह सारा वक्त कैसे कटेगा ? बार-बार मैं अपने को टटोलता···और फिर चित्रा की तरफ से अपने बारे में सोचता। लगता था कि जैसे इतने थोड़े से दिनों में ही हमारे बीच एक अजीब सा ठंडापन भर गया है। हम दोनों जैसे एक-दूसरे के साथ यह विवाहित जीवन जीने के लिए कुछ-कुछ-से मजबूर थे और कुछ मजबूरी थी हमारे जवान होने की। जैसे हमें एक-दूसरे की ज़रूरत कुछ क्षणों के लिए थी···और वे क्षण भी अजीब उफान के होते थे, उसके बाद सूनापन बांधने लगता था।

···शाम होते ही हमारी गली में उदासी भरने लगती थी। एक-एक कमरों में रहनेवाली गृहस्थियां बाहर गली में निकल आती थीं। गली भर में पत्थर के कोयलों की अंगीठियां सुलगने लगती थीं। नाली के पास गली की ज़मीन साफ करके पानी छिड़क लिया जाता था और खाटें बिछा ली जाती थीं। उनपर बैठी-बैठी औरतें सब्जियां काटती रहतीं या कोई और काम करती रहतीं। सामने की दीवारों पर लगे हुए नालियों के पाइप बड़ी-बड़ी छिपकलियों की तरह चिपके लगते थे, और मेरा मन गिजगिजाहट से भर उठता। इन कुछ ही दिनों में हमारे सारे कपड़ों का रंग और बू एक खास किस्म की हो गई थी। तौलियों में अजीब-सी महक समा गई थी और बिस्तर सड़े हुए अनाज की तरह महकने लगे थे।

शाम गहरी होती तो गली में रहनेवाले दूकानदार आदमी अपना धंधा करके लौट आते थे, और बेल-बूटेदार मैले-चीकट तकिये लगाकर सुतरी खाटों पर लेटे रहते—क्रोशिए से बनी हुई बनियाइनें पहने तथा

जांघों तक तहमद उठाए।

मैं खिड़की से यह सब देखता और मन घुटने लगता। रात होते-होते मन इतना छटपटाता था कि दीवारें तोड़कर कमरे को कुछ और खुला करने के लिए अकुलाने लगता था।

चित्रा जैसे-तैसे वहीं कमरे के एक कोने में स्टोव पर खाना पका लेती, और खाना खाते वक्त भी लगता कि रोटी की अपनी महक नहीं रह गई है। लगता था कि जैसे रोटियां पकाकर किसी बोरे में बंद कर दी गई हों, और अब उसमें से निकाल-निकालकर परोसी जा रही हों। गिलासों में सड़ते अचार-सी बू आती और जब रात को इस सबके बाद कभी चित्रा बालों में तेल लगाकर पास लेट जाती, तो सांसें रुकने लगतीं।

सीली हुई दीवारों की महक में मैले कपड़ों की मिली हुई बू... कोने में रखे राशन की गर्म महक और बिस्तरों से आती सड़े हुए अनाज की बू और चित्रा के बालों का महका हुआ तेल...बगलों में भरे हुए पसीने की तेज़ भभक...दिल होता था कि कमरे से निकलकर भाग जाऊं...

और इस सबके बीच भी जैसे कभी-कभार ज़िन्दगी लौटती थी। वे क्षण ही जैसे सारे जीवन को सार्थकता दे जाते थे। जब भी सुमंत यह कहकर चला जाता कि वह सेकिण्ड शो सिनेमा देखकर लौटेगा, तो कमरे की सारी बूएं जैसे मदहोश करने लगती थीं। हम दोनों ही जैसे उस सबकी अनहोनी अनुभूति से भर जाते थे—जो होने वाला होता था। चित्रा बहुत फुर्ती से खाना बनाती थी और तब तक जाकर, मैं मन्दिर के पास से उसके लिए वेणी खरीद लाता था। हम बहुत जल्दी खाना खाते थे और चित्रा झटपट गुसलखाने में जाकर हाथ-मुंह धो आती थी, तेल डालकर बाल काढ़ती थी, जूड़े में वेणी बांधती थी और साड़ी बदलकर तैयार हो जाती थी। हम नई दिल्ली स्टेशन होते हुए कनाट प्लेस की तरफ पैदल घूमते हुए निकल जाते थे—मन में यह सोचते हुए कि हमें

जल्दी ही लौटता है और थककर सो जाता है…

हम लौटकर आते। अतीत पर बिस्तर [illegible] हुए एक-दूसरे से कतराते। [illegible] इरादों को एक-दूसरे पर जाहिर होने से दूर रखते। [illegible] पर रहतीं और तब जैसे कोई और [illegible] आंखों में नहीं होती पर जो भी [illegible] बुझा देता कि आज बहुत [illegible]।

और तब पास-पास लेटे हुए भी [illegible] सुन्न पड़े रहते—सिर्फ इस [illegible] को समझ रहे थे और तब एक-दूसरे को [illegible] झिझकते।

सीली हुई दीवारें…[illegible] कोने में जाली हुई [illegible] में फूटती हुई [illegible] उसका तन [illegible] दूर जाने…[illegible] का एक [illegible] [illegible]

जांघों पर जैसे कोमल कांटे उभर आते और फिर सब महकें घुल-मिलकर ज़िन्दगी की एक अजीब महक में समा जातीं। चारों ओर जैसे सितारे फूटने लगते···शरीर चटखने लगते। सांसें गुंथ जातीं और हाथों से पके हुए चावल की गंध फूटने लगती। शरीर उस गंध में नहा जाता और हम पसीने से लथपथ अपने बंधनों को ढीला करने लगते। कमरे में गर्मी और बढ़ जाती। दोनों जल्दी-जल्दी बिस्तर की सलवटें साफ करते। मैं तब तक कमरे का दरवाज़ा खोलकर गली की आहट लेता···हवा की हल्की-सी लहर आती, तो तन ताज़ा-सा होता और मैं वहीं चौखट पर खड़े-खड़े कहता, "बड़ी गर्मी हो रही है, चित्रा।"

चित्रा एक क्षण शरारत से मुस्कराकर मुझे देखती। उसकी आंखों में बेहद मासूमियत होती और चेहरे पर ताज़गी। तभी मुझे लगता कि सचमुच मैंने चित्रा को यहां लाकर एक पिंजड़े में बन्द कर दिया है··· मेरा मन भीतर से उमड़ आता और मैं उसे बांह पकड़कर खींच लाता। "चलो, जरा बाहर टहल आएं···"और दरवाज़े की ओट में एक बार फिर उसे धीरे से प्यार कर लेता।

हम दोनों ताला लगाकर नीचे गली में उतर आते और बड़ी मस्ती से कुतुब रोड की ओर निकल जाते। उस वक्त गली में चलते हुए मुझे हमेशा यह एहसास होता कि लोग हमसे ईर्ष्या कर रहे हैं और हमारी मस्ती से भरी ज़िन्दगी देखकर कुढ़ रहे हैं।

मैं उन क्षणों में अपने व्यक्तित्व को पूरा होते हुए देखता। अपने पर विश्वास होता और ज़िन्दगी की सार्थकता कुछ-कुछ दिखाई देने लगती। चित्रा उन क्षणों में बेहद सुन्दर लगती। मैं उसके शरीर के एक एक खम को सकारता और कभी-कभी एक कदम ठिठककर उसे देखता —कितना सुडौल था उसका बदन! मेरा मन जैसे पूर्णता प्राप्त करता और गली से बाहर आते-आते चित्रा कुछ गुनगुनाने लगती थी···

हमें तब नींद नहीं आती थी। कुतुब रोड पर हम घूमते···सड़क के

किनारे खड़ी दीवार के उस पार पड़ा हुआ दिल्ली-भर का कूड़ा बदबू देता, पर तब हमें वह बदबू बर्दाश्त हो जाती थी।

हम सड़क के किनारे-किनारे टहलते रहते और दीवार के उस पार कूड़े की रेलगाड़ियां भर-भरकर छूटती रहतीं। डिब्बों में कूड़ा भरते हुए जमादारों की टोलियों की भनभनाहट, लड़ते हुए कुत्तों का शोर और बेलचों, तसलों, पल्लों और फावड़ों की आवाज़ें आती रहतीं। सैकड़ों टन कूड़े की बदबू भी उन वक्त चित्रा के जूड़े में महकते बेला के फूलों में दब जाती और हम चुहल करते हुए उसी सड़क पर चहलकदमी करते रहते।

नई दिल्ली स्टेशन से इंजनों की सीटियां सुनाई पड़ती और कुछ-कुछ देर बाद अड्डे की तरफ लौटते हुए तांगों की आहट आती। आधी रात में कूड़े के ट्रक आते, और शोर मचाते हुए और 'डम्प प्लेट-फार्म' की ओर चले जाते। हम तब तक टहलते रहते, जब तक सिनेमा के लोग लौटने न लगते और कभी-कभी हम सुमन्त को वहीं सड़क या गली के मुहाने पर ही मिल जाते। वह हमें आश्चर्य से देखता, "अभी सोए नहीं?"

"नींद नहीं आई..." चित्रा कह देती।

फिर हम लौटकर उसी कमरे में पहुंचते। सुमन्त की दरी और चादर बिछी होती। मैं पसरकर लेट जाता। चित्रा सुमन्त को खाना खिलाती और मैं भरा-भरा-सा उसे देखता रहता। उन दिनों का यह दृश्य आज भी हल्के से मुझे सहला जाता है। उन क्षणों में जैसे हमारे पास सब कुछ होता था। सुमन्त खाता जाता और देखे हुए सिनेमा का किस्सा सुनाता जाता। चित्रा बड़े मन से किस्सा सुनती, फिर गानों के बारे में पूछती और गाने अगर उसे अच्छे लगते, तो वह मुझसे किसी दिन प्रोग्राम बनाने का आग्रह करती।

हम तीनों लेट जाते। बीच में मैं, दाहिनी ओर कुछ दूर

और बाईं ओर पास ही सटी हुई चित्रा। बहुत रात गए तक हम चुप-चाप एक-दूसरे को छेड़ते रहते···पर ऐसे कि सुमन्त को भी एहसास न हो।

और तब आंख में नींद उतर आती।

सुबह चित्रा अपना जूड़ा संभालती तो सूखी हुई वेणी उतारकर खिड़की में बिछे कागज़ पर रख देती। और जब उसी खिड़की पर शेव के लिए मैं पानी का इन्तजार करता होता तो उस सूखी हुई वेणी को सूंघता···उसमें तब भी महक होती।

और मैं एकाएक न जाने क्यों सुमंत से कहता, "अगले महीने कोई अच्छी-सी जगह देखी जाए—क्यों सुमंत? जो दस-बीस ज्यादा पड़ेगा, दे लेंगे···"

चित्रा की आंखों में रोशनी-सी लहर जाती। दाल धोते-धोते बोलती, "फिर हम घर से अपना सामान वगैरह भी ले आएंगे···"

"अगले इतवार मकान खोजने जाएंगे, यही प्रोग्राम रहेगा। क्यों भाभी, ठीक है न!" कहता हुआ सुमंत तौलिया लिए गुसलखाने की ओर बढ़ जाता। वहां कोई और नहाता होता तो लौटकर कमरे में आता और पूछता, "क्यों, भइया, तुम्हें सरकारी क्वार्टर नहीं मिल सकता?"

"मिलेगा तो, पर कब तक, यह पता नहीं।" मैं कहता तो चित्रा के पंख लग जाते, "एक दफा घर ठिकाने का हो जाए तो मैं भी कहीं छोटी-मोटी नौकरी कर लूं···सारा दिन अकेले यहां मन भी तो नहीं लगता।"

"तो तुम कुछ मेरा काम कर दिया करो भाभी।" सुमंत बोला था।

"हां तो बताओ न···मैं तो खाली ही बैठी रहती हूं।"

"प्रेस के प्रूफ पढ़ दिया करो···कुछ पैसा भी आ ही जाएगा।"

सुमत ने कहा था तो चित्रा बोली थी, "पर प्रूफ पढ़ना मुझे आता नहीं है।"

"मैं बता दूंगा। घंटे-भर में सीख जाओगी। अगर सीख लो तो चार-छः फर्मे मैं रोज़ ला सकता हूं..." कहते हुए सुमन्त ने गुसलखाना खाली होने की आवाज़ सुनी थी और वह झपटकर घुस गया था।

उस दिन के बाद ही वह कुछ प्रूफ ले आया था। चित्रा को उसने प्रूफ पढ़ना भी सिखा दिया था। जब भी सुमन्त को कुछ काम मिलता तो वह उठा लाता। दूसरे दिन चित्रा उसे पूरा कर देती और तीसरे दिन सुबह वह लेता जाता। कुछ आमदनी भी हो ही जाती थी। चित्रा की यह आमदनी थी तो बहुत थोड़ी, पर फिर भी एक सहारा-सी बनती जा रही थी।

कभी-कभी मैं लौटता तो देखता कि चित्रा प्रूफ पढ़ने में लगी हुई है। मेरे आते ही वह उठती, पर उसका ध्यान उस काम में ही रहता। मैं हाथ-मुंह धोने जाता तो वह एक पैराग्राफ और पढ़ लेती और सुमत के आते ही उससे उलझ जाती।

"ज़रा यह शब्द देखना, सुमन्त।" वह कहती और पूरी लाइन पढ़कर सुनाती। सुमन्त बड़े गौर से सुनता और सही करता जाता। बीच में वह उठकर जाती। इधर-उधर की बातें करते हुए चाय बनाती, मुझसे दफ्तर के हाल पूछती और चाय के प्याले रखते ही जैसे हम दो हिस्सों में बट जाते। मैं चुपचाप चाय पीता रहता और चित्रा सुमन्त के पास अपना प्याला खिसकाकर, लाल स्याही का फाउण्टेनपेन हाथ में लिए फिर उन कागज़ों से कुछ पढ़ने लगती।

और पढ़ते-पढ़ते कभी वह उस लेखक का मज़ाक बनाती, "कितने गधे होते हैं तुम्हारे ये लेखक! इन्हें इतनी भी तमीज़ नहीं कि क्या लिख रहे हैं।"

सुमन्त कुछ कह देता। चित्रा झगड़ पड़ती। और उनमें बहस छिड़ जाती। तब सुमन्त बड़े इत्मीनान से बैठकर उसे समझाता।

और एक दिन ठीक ऐसा ही हुआ था। प्रूफ पढ़ते-पढ़ते चित्रा ने किसी लेखक का मजाक उड़ाया था। चाय का एक दौर चल चुका था। मैं अपना प्याला खाली करके चुपचाप बैठा सिगरेट पी रहा था कि उन दोनों में घमासान बहस होने लगी थी। चित्रा कह रही थी, "तुम्हारे ये लेखक नारी को समझते-वमझते कुछ नहीं, सिर्फ दिल की भड़ास निकालते हैं।"

"तुमने अभी दुनिया नहीं देखी है, भाभी।" सुमन्त बोला था, "कैसी-कैसी औरतें पड़ी हुई हैं, तुम क्या जानो। तुम लोगों के दिमागों में वही सती साध्वी पत्नी का रूप बैठा हुआ है...पर दुनिया बहुत बदल गई है। संबंध बहुत बदल गए हैं..."

सुनते हुए चित्रा झुंझला उठी थी। बोली थी, "होता होगा कहीं और, अपने हिन्दुओं में ऐसा नहीं होता..." और बहस का दौर लगभग झगड़े पर खत्म हुआ था। सुमन्त सख्ती से बोला था, "छोड़ो इस बहस को। समझ में नहीं आता कि तुमने पढ़ा-लिखा क्या है?"

यह बात चित्रा को चाट गई थी। सारी बातों के बावजूद वह इसे बर्दाश्त नहीं कर पाई थी। सुमन्त भन्नाया हुआ उठ गया था। चित्रा गुसलखाने में जाकर रोई थी और मुंह धोकर लौटी थी। उसकी सुर्ख आंखें देखकर मुझे पता चल गया था कि वह रोकर आई है।

तब मैंने उसके पास बैठते हुए समझाया था, "तुम्हें बुरा नहीं मानना चाहिए...यह तो बात की बात थी। इसमें झगड़ने का सवाल ही क्या था! फिर तुम्हें क्या लेना-देना इस बात से कि कौन क्या लिखता है और

क्यों लिखता है। तुम अपने प्रूफ पढ़ो और थमा दो उसे। वह जाने, उसका काम जाने…"

चित्रा की आखें फिर डबडबा आई थीं। उसे कोई और ही बात खाए जा रही थी। बोली थी, "सुना नहीं तुमने—सुमन्त मेरे पढ़ने-लिखने पर…"

"अरे छोड़ो भी इस ज़रा-सी बात को…" मैंने उसे समझाया था। कुछ देर बाद वह ठीक हो गई थी और खाना पकाने लगी थी।

पर उस दिन के बाद मैंने महसूस किया था कि चित्रा रिश्ते के जिस बड़प्पन से सुमन्त से बात करती थी, वह बड़प्पन कहीं खो गया था। उस कमरे में एकाएक वह सबसे छोटी हो गई थी…

उस दिन से पहले तक अगर सुमन्त को प्यास लगती थी तो वह खुद उठकर पानी पी लेता था, पर अब चित्रा कभी-कभी उसे दे देती थी। अपने धोए हुए कपड़े वह शाम को आकर खुद उठाता था, पर उस दिन के बाद मैंने देखा था कि चित्रा उसका तौलिया और बनियान भी बाहर से लाकर कील पर टांग देती थी।

शाम को वे फिर प्रूफ ठीक करने बैठते, तो चित्रा धीरे से उठकर दुबारा चाय का पानी चढ़ा देती थी।

उस दिन भी कुछ ऐसा ही हुआ था। चाय का पहला दौर चल चुका था। मैं अपना प्याला खत्म कर सुबह का अखबार पलट रहा था कि चित्रा ने फिर चाय तैयार की थी और बेखबर-सी सुमन्त का और अपना प्याला भरकर फिर पूछताछ में उलझ गई थी।

उसी दिन शायद पहली बार मैंने अपमानित महसूस किया था। कुछ देर बाद उसे एकाएक याद आई थी तो बहुत खिसियाते हुए वह बोली थी,

"अरे, मैं तो आपको चाय देना ही भूल गई···ठण्डी हो गई है, अभी गरम कर देती हूं।"

मैं बहुत पीड़ित था उस वक्त, फिर भी अपने को संयत रखते हुए मैंने कहा था, "नहीं, मुझे और ज़रूरत नहीं···तुम अपना काम करो···"

"मैं बिलकुल भूल ही गई···" कहते हुए उसने स्टोव पर केतली रख दी थी। उस क्षण उसकी इस बेचारगी पर मुझे बड़ा तरस आया था। उसका हाथ स्टोव में हवा भरते हुए बार-बार बिछल रहा था। कनपटियों पर पसीना छलछला आया था। उस वक्त जितनी जल्दी से वह चाय गरम करके मुझे दे देना चाहती थी, वह मुझे बहुत बेहूदी-सी लग रही थी। उसका बैठना, बार-बार बांह से माथे पर आया हुआ पसीना पोंछना और पैरों की अंगुलियों का कसकर ज़मीन पकड़ना—सब कुछ बहुत अजीब-सा लग रहा था। लगता था, जैसे कुछ ही मिनटों में हमारे बीच मीलों की दूरी पैदा हो गई है···और उस दूरी के एक सिरे पर बैठी चित्रा चाय बना रही है और दूसरे सिरे पर बैठा मैं अब और भी ज़्यादा अपमानित महसूस कर रहा हूं। कि अब यह चाय मुझ तक कभी नहीं आएगी—आएगी भी तो उसका कोई मतलब नहीं होगा।

उसने मेरा प्याला धोकर चाय ढाल दी थी और चुपचाप उठकर नल से पानी लेने चली गई थी। सुमन्त कुछ पढ़ने में गुम था। चाय मेरे सामने पड़ी थी और चित्रा अपराधी-सी दरवाज़े की चौखट के पार चिपकी खड़ी थी।

ऐसा ही उस दिन भी हुआ था, जब इण्डिया गेट से हम दोनों अपमानित-से लौटे थे। रास्ते-भर चित्रा ने मुझसे बात नहीं की थी मैं तैयार होकर रेडियो चला गया था। सुमन्त अपने काम पर। को जब हम तीनों फिर इकट्ठे हुए तो कहीं पर कुछ खोया हुआ या कुछ और जुड़ गया था, जिसे हम कोई नाम नहीं दे सकते जो कुछ जुड़ा था, वह शायद अतिरिक्त था···कुछ ऐसा जो हम

को ही अकेला कर रहा था। शाम को सुमन्त ने चाय भी नहीं पी। वह जल्दी मे था। शायद चित्रा उसके सामने पड़ना भी नहीं चाहती थी। वह गुसलखाने में घुस गई थी। जब तक वह गुसलखाने से लौटकर आई थी, तब तक सुमन्त किसी काम से चला गया था। मुझसे कह गया था कि वह देर से लौटेगा, यही कोई डेढ-दो बजे रात को।

"सुमन्त डेढ़-दो बजे आएगा। उसका खाना रख दो, आकर खा लेगा।" रात का खाना खत्म हुआ तो मैंने अनमनेपन से कह दिया था। आज भी वक्त था—अकेले होने का—पर मन में कुछ ऐसा भरा हुआ था कि दोनों ही अपने वहां होने का कोई वसीला नहीं खोज पा रहे थे। लग रहा था कि हम दोनो ही साथ रहने को मजबूर हैं। अभी चित्रा बिस्तर बिछाएगी और हम अनजान-से लेटकर सो जाएगे।

यही हुआ भी। मुझे नही मालूम कि चित्रा कब सोई, सुमन्त कब आया और सुबह वह कब उठ गई। जब मेरी आख खुली तो चित्रा नहा रही थी और सुमन्त पड़ा सो रहा था।

उसके सिरहाने, वही ज़मीन पर एक गिलास पानी तश्तरी से ढका हुआ रखा था। वह गिलास देखकर मैं तिलमिला उठा था। अपने सिरहाने मैंने देखा—पानी का गिलास नही था। सिर्फ एक तश्तरी पड़ी हुई थी।

उन दिनों ज़िन्दगी कुछ अजब रफ्तार से चल रही थी। काम में भी मन नही लगता था। नौकरी का तीन साल का कान्ट्रैक्ट था, जो अब समाप्त होने को आ रहा था। नौकरी से अलग किए जाने की उम्मीद तो न थी, पर भविष्य के लिए कुछ होता भी नही दिखाई पड रहा था—उम्मीद थी कि यही कोई बीस-तीस रुपये का इन्क्रीमेंट मिल जायेगा—जिससे कुछ होता-जाता नहीं था। इससे ज्यादा कुछ पाने की आशा बिलकुल नही थी। मन में कही यह डर भी समाया हुआ था कि स्टेशन डायरेक्टर ने यदि सिफारिश न की या रिपोर्ट में कुछ अंट-शट लिख दिया तो जो होने वाला है, वह भी नही होगा।

दिल्ली में आकर तो मैं और भी गरीब हो गया था। मन में कहीं यह बात भी टीसती रहती थी कि दिल्ली आकर मैंने अपनी खुदी को और भी खो दिया है। इलाहाबाद में तो फिर भी कुछ 'होने' का एहसास होता था, लगता था कि कुछ लोग मुझे जानते हैं और मेरे काम को ईर्ष्या की दृष्टि से देखते हैं—दूसरों की आंखों से झांकती हुई वह ईर्ष्या मेरे अहं को तुष्ट करती थी। यूनिवर्सिटी और कालिजों के बड़े दर्जों के लड़के मुझे कभी-कभी हसरत से देखा करते थे और मुझसे बात करने के लिए उतावले-से रहते थे। कभी कॉफी-हाउस चला जाता तो जान-पहचान कराते हुए कोई थोड़े फख्र से ही कहता—"ये रेडियो में एनाउंसर हैं।"

तब एक क्षण के लिए मुझे अपने पर गर्व होता था। पर दिल्ली आकर मेरी जिन्दगी की यह बहुत छोटी-सी सार्थकता भी मर गई थी। और धीरे-धीरे मेरे भीतर का इन्सान खण्डित होता जा रहा था।

छोटी-छोटी बातें उस वक्त बहुत चुभतीं, जब चित्रा साथ होती। मुझे लगता था कि मेरे भीतर ही मेरी एक कद्दे-आदम मूर्ति थी—उस की शक्ल मुझसे कुछ ज्यादा खूबसूरत थी। उसके माथे पर मेरी तरह शिकनें नहीं थीं। उस मूर्ति में दम-खम था। दर्प और अहं भी था। तन कर खड़े होने की ताकत भी थी। वह मूर्ति एक काबिल इन्सान, पूर्ण पति और सफल व्यक्ति की थी। उसकी आंखों में सपने थे, दिमाग में योजनाएं थीं और मन में इच्छाएं भी थीं। जब भी चित्रा मेरे साथ होती तो वह मूर्ति मेरे भीतर से निकलकर ऊपर छा जाती और मेरा असली चोला भीतर समा जाता...

पर दिल्ली में आकर यह मूर्ति लगातार टूटती गई, छोटी-छोटी बातों से। वे बातें अहम नहीं थीं, पर जिस रूप में वे घटित हुईं, उनसे कुछ न कुछ चटकता गया।

चित्रा के रिश्ते का कोई भाई दो दिन के लिए आया था। वह रेडियो स्टेशन देखना चाहता था। चित्रा ने अपने सहज दर्प में कुछ

रामतरानिया हांक दी थीं···ऐसे बड़-चढ़कर कुछ बातें कह दी थी, जो उस क्षण मुझे भी बहुत भली लगी थीं—"अरे, रेडियो स्टेशन का क्या है ? इन्हें कौन नहीं जानता—अगर मैं ही इनका नाम लेकर चली जाऊं तो किसकी मजाल कि टोक दे···" चित्रा अपनी रौ में उस भाई से कहती जा रही थी, "छब्बीस जनवरी को ये पास ले आए थे, हम बड़े आराम से रिपब्लिक डे देख आए, नहीं तो यहां पास मिलना आसान बात नहीं है। बड़े-बड़े लोग हाथ-पैर मारकर रह जाते है। इतना रौब तो है तुम्हारे जीजाजी का। कब देखोगे रेडियो स्टेशन ?"

"आज या कल, यही दो दिन हैं। कल रात को मैं वापस भी जाना चाहता हूं—हो सकेगा ?" चित्रा के भाई ने पूछा।

"हो क्यों नहीं सकेगा ? इसमें कौन-सी दिक्कत है !" चित्रा ने अपनी उसी रौ में कहा था, "वैसे रेडियो स्टेशन देखने के लिए सिर्फ शुक्रवार को ही पास मिलते हैं, पर हो जाएगा···क्यो ?" उसने मुझसे पूछा था।

मैं अजीब धर्मसंकट में था। दफ्तर में जो मेरी औकात थी, उसे मैं खूब जान रहा था, पर उस क्षण के दर्प में मैं इनकार भी नहीं कर सकता था। इसीलिए बोला था, "हो क्यों नही जाएगा। एक नहीं, दस पास बन जाएंगे···"

"तो फिर ठीक है दीदी, हम लोग कल चलेंगे···"

और जब चित्रा अपने भाई को साथ लिए हुए रेडियो-स्टेशन आई थी तो मैं दबसट में फंसा हुआ था। कोशिश के बावजूद पास नहीं बन पाए थे। स्टेशन डायरेक्टर तक पहुंचने की अपनी बिसात नहीं थी, आखिर चुपचाप ड्यूटी आफीसर से जाकर मिला था। उसने झट से तरकीब बताई थी, "स्टूडियो में कोई रिहर्सल हो रहा हो तो दोनों का आर्टिस्टों का पास बनवा लो और चले जाओ···"

बात मुझे जंची थी। पर बदकिस्मती कि उस दिन किसी नाटक

स्टूडियो-रिहर्सल नहीं हो रहा था। आखिर में हिम्मत करके उन
नों को ले चला था, यही सोचकर कि स्टूडिओज़ वाले बड़े दरवाज़े पर
ड़ा होने वाला चौकीदार मुझे पहचानता है। वह टोकेगा नहीं।
आखिर दिन में वीस वार आते-जाते देखता है, पहचानता तो है ही।

उस वक्त जब कि मैं अपनी उस छोटी-सी जान-पहचान के आसरे
उन दोनों को लेकर दरवाज़े तक पहुंचा था, तो उसने टोक दिया था,
"साव, पास !"

"अरे भई, पहचानते नहीं !" मैंने चौकीदार से जान-पहचान जताई
थी, पर मन ही मन मैं तिलमिला भी उठा था। मैं जान रहा था कि
अब यह वदमाश चौकीदार मेरी वेइज़्ज़ती करके ही रहेगा। पर न जाने
उसे क्या सूझा कि मुस्कराता हुआ एक ओर हट गया। एकाएक मेरी
स्थिति सुधर गई थी और मैंने जीत के अंदाज में चित्रा और उसके
भाई को देखा था। अभी एक क्षण पहले जो स्थिति थी, उससे मैं उबर
आया था। पर चित्रा की आंखों में अपमानित होने जैसा भाव उतर
ाया था। उसकी चाल और हाव-भाव में अब वह उत्साह नहीं रह
ाया था जो कि तब था, जब वह अपने भाई को लेकर रेडियो स्टेशन
आई थी। रेडियो स्टेशन में ऐसा कुछ देखने को होता भी नहीं। मैं उन
दोनों को एक खाली स्टूडियो से दूसरे खाली स्टूडियो में घुमाता रहा और
वताता रहा कि यहां से खबरें प्रसारित होती हैं…यह वूथ हम एनाउन्सरों
का होता है…यह कण्ट्रोल है…यह ड्रामा स्टूडियो है…यहां से हम
लोग किस-किस तरह और किन तरकीवों से साउण्ड इफैक्ट देते हैं…

यह सब उन्हें समझाते हुए मैं ज़रा ज़्यादा ही उत्तेजित था। मे
चित्रा के भाई की ओर उतना ध्यान नहीं था, जितना कि स्वयं उस
ओर।

ज़िन्दगी में वहुत वार ऐसे क्षण आए, जब मैंने गर्व से भरकर
की आंखों में अपनी सार्थकता खोजनी चाही, पर ऐसे क्षणों में मैंने

बहुत संयत पाया। आज लगता है कि शायद हर पुरुष अपनी प्रेमिका या पत्नी की आंखों में अपनी भावनाओं की अतिरंजित तस्वीर देखने की कामना रखता है। परिवार इतने छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट गए हैं कि आदमी की खुशियों या दुःखों का विस्तार सिमट आया है—अब सुख में दस या दुःख में बीस जन संवेदना प्रकट करने वाले नहीं रहे हैं। और इसीलिए अब सुखों और दुःखों की सह-अनुभूति के लिए दस या बीस गुनी गहराई चाहिए'''

एहसास की गहराइयां। कितनी गहरी हो गई हैं ये गहराइयां! टूटे हुए परिवारों में, जहां पति-पत्नी का ही घटक रह गया है, यह गहराई एक अनिवार्यता बन गई है, और मेरे साथ मुश्किल यही थी कि हम दोनों एक दूसरे के पूरक बनने के लिए, पहचानने के लिए कुछ और वक्त गंवाने को मजबूर थे। शादी के पहले मैंने चित्रा को जाना नहीं था और न उसने मुझे।

हां, उस हिन्दू वैवाहिक कर्मकाण्ड के दौरान इतना-भर जरूर महसूस हुआ था कि अब मैं कहीं और भी प्रतिश्रुत हो गया हूं। उन कर्मकाण्डों के बीच धीरे-धीरे एक जुड़ने की भावना पैदा हुई थी और लगा था कि उन दो दिनों में मिल-जुलकर हर जगह साथ-साथ अर्घ्य देते या हवन करते हममें कुछ सन्निकटता आई थी।

और उस जरा-सी जान-पहचान के सहारे हम एक बहुत लम्बी जिन्दगी के छोर से बंध गए थे। उस सन्निकटता में वह जोश, गरमी और रस नहीं था'''स्वयं कुछ करके पाने का एहसास नहीं था।

जब हमारा घर टूटा था तो मैंने यही सोचा था कि अब मैं चित्रा के साथ शायद गहरी आत्मीय निकटता महसूस कर सकूंगा। हम अकेले होते हुए अपनी भावनात्मक दुनिया में एक-दूसरे पर इतने निर्भर हो जाएंगे कि हमारा एक-दूसरे के बगैर रहना मुश्किल हो जाएगा। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। हमारी निर्भरता में बाहरी दुनिया की बातें

ही अधिक रह गई और ऐसे एकांतिक आत्मीय क्षण वहुत कम आए .जब हम एक-दूसरे को आंतरिक गहराई से महसूस करते । कुछ ऐसा था जो हमारे वीच पैदा ही नहीं हो पाता था···कभी वहुत अपनत्व के क्षण आते, तो भी कुछ था जो वाकी रह जाता था । यह कुछ···शायद महसूस ही किया जा सकता है, यह वहुत कम ऊपरी भावों में उभरता है—कभी उभरता है तो वहुत सुन्दर वनकर—तव व्यक्ति के चेहरे से एक प्यार-भरा तेज़ फूटता है···आंखों में एक आभा उतर आती है और चारों ओर सव कुछ संतुलित और सुन्दर दिखाई देने लगता है । वेकार चीज़ों में भी अर्थ भर जाते हैं ··

घटनाएं तो वहुत-सी हैं—हर दिन कई-कई घटनाओं का दिन होता था । हर पल मुझे एक संशय खाए रहता था—दिन-व-दिन अपने असंतुलित होते हुए संवंध और हमारे वीच में निरन्तर भरती हुई खामोशी ।

धीरे-धीरे उस एक कमरे में छोटी-मोटी चीज़ें भरती जा रही थीं । और हम एक-दूसरे पर उन चीज़ों के लिए निर्भर भी करते थे—पर वे सभी ऐसी चीज़ें और वातें थीं, जो पति-पत्नी की एकांतिक दुनिया से संवंधित नहीं थीं ।

हमारे निर्भर होने की वातें कपड़े टांगने के लिए खूंटी गाड़ने, नई सुराही लाने और वक्से का टूटा हुआ ताला वनवाने तक ही सीमित थीं । हमारे वीच ऐसी कोई भावनात्मक पूंजी पैदा नहीं हो पा रही थी, जिसे सहेजकर रखने के लिए हम उत्सुक होते ।

हमारे वीच एक भी ऐसा वीता हुआ क्षण या वाक्य नहीं था, जिसे हम वक्त-वेवक्त याद करके हंस लेते या जिसकी स्मृति से हमारी आंखों में सहज प्यार-भरी शैतानी ही उभर आती ।

आज वे सब संशय उभर-उभरकर आते हैं। मुझे लगता है कि जिन बातों को मैं अपने मन की क्षुद्रताएं समझकर मुंह पर ताला लगा लेता था वह गलत था। संशय भीतर से काटते हैं और धीरे-धीरे शंकाओं में बदल जाते हैं।

उन्हीं दिनों जब मुझे चार-पांच दिनों के लिए एक ओ० बी० के सिलसिले में बाहर जाना पड़ा था, तो मेरा मन बहुत ज्यादा संशयग्रस्त था। हमें पहाड़ी जीवन के कुछ लोकगीत रिकार्ड करके लाने थे और रेडियो के लिए 'गंगातट का जीवन' पर एक डाक्यूमेंटरी तैयार करनी थी। उस डाक्यूमेंटरी में कुछ आंखों देखा वर्णन भी जाना था, उसके लिए मुझे ही भेजा जा रहा था। मैं भी दिल्ली के कोलाहल से कुछ दिनों के लिए बाहर निकल जाना चाहता था। और कहीं यह बात भी थी कि बाहर का दौरा करने से तनख्वाह के अलावा कुछ टी० ए०, डी० ए० भी और बन जाएगा। इसीलिए मैंने शुरू-शुरू में खुद दौड़-भाग करके ही ओ० बी० पार्टी में अपना नाम शामिल करवाया था, पर तब यह सोचा ही नहीं था कि मैं जिन परिस्थितियों में रह रहा हूं, उनमें मेरा बाहर रहना मुझे ही काटता रहेगा।

ओ० बी० पर जाने से पहले ही मेरे दिमाग में कई बातें आ-जा रही थीं। रह-रहकर लगता था कि चित्रा इस तरह अकेली कैसे रहेगी? रहने को तो रह ले, पर सुमत के साथ एक ही कमरे में रहना, उठना-बैठना और सोना'''मैं कुछ सोच ही नहीं पाता था। यह कैसे होगा? चित्रा को साथ ले जाना सम्भव ही नहीं था, और कहीं भीतर मन में उसे ले जाने का उत्साह भी नहीं था। अजीब डबडबाई-सी तबियत थी।

जब मैंने उसे यह बताया तो एकाएक उसने कहा था, "तुम जाओ, काम है तो करना ही पड़ेगा, पर इस तरह मेरा यहां रहना'''वैसे कोई बात नहीं'''मुझे कोई डर नहीं है। और फिर पांच-छः दिनों में तो तुम

पस आ ही जाओगे…"

उसकी बात में कई पहलू थे। और स्थिति के वे पहलू ही मुझे तर रहे थे। धीरे से मैंने कहा था, "खैर डर की तो कोई बात नहीं!" मैं इस 'डर' को स्वयं ही दूसरी तरफ मोड़ देना चाहता था। इस शब्द की कई नोकें थीं। और मन के मुख्य डर को हम दोनों ही स्पष्ट नहीं करना चाहते थे।

"यह जगह वैसे बहुत सेफ है। गली में हर वक्त कोई न कोई आता-जाता रहता है। रात में भी लोग बाहर लेटते हैं—डर तो मुझे बिलकुल नहीं लगेगा।" चित्रा ने कहा था और हमारे 'डरों' का रुख बदल गया था।

दोनों ही इस सम्बन्ध में सुमंत का नाम लेने से कतरा रहे थे। चित्रा भी यह नहीं कह पा रही थी कि सुमंत का यहां साथ होना ही मुख्य डर का कारण है जो मुझे सता रहा था, और न मैं ही खुलकर कह पा रहा था कि मुझे भी यही बात काट रही थी। हमने अपने 'डरों' को नई परिभाषा दे दी थी, ऐसी परिभाषा जिससे हम दोनों ही बिलकुल डरे नहीं थे।

"तुम निश्चिन्त होकर जाओ।" चित्रा ने बहुत संभालकर जैसे मेरे य को समाप्त कर देना चाहा था।

"हां, ऐसी तो कोई बात नहीं…मैं कुछ रुपये भी तुम्हें देता जाऊंगा …दिक्कत नहीं होगी।"

"तुम्हें ज़रूरत पड़ेगी…बाहर जा रहे हो। हमारा क्या है, यहां चल ही जाएगा।" वह बोली थी।

"फिर भी…ज़रा-ज़रा-सी चीज़ के लिए कहते अच्छा भी न लगता।"

और मैंने उस दिन बहुत गहराई से यह अनुभव किया था कि स मुच एक तीसरा आदमी हमारे बीच कहीं उपस्थित है—हर बात

पर ढलती है। हर सशय वही इशारा करता है, और हमारे बीच हर बार वही एक छाया आकर खड़ी हो जाती है, जिसे हम खुली आंखों देखते हैं पर कुछ कह नहीं पाते।

उस छाया को देखते हुए भी कुछ न कहना मैं सशय की बात समझता था। मुझे लगता था कि उस तीसरे आदमी के बारे में बात करते ही मैं कहीं बहुत छोटा हो जाऊंगा। और यह क्षुद्रता मुझे फिर कभी भी चित्रा की आंखों में ऊपर नहीं उठने देगी।

लेकिन आज मैं इस नतीजे पर पहुंच चुका हूं कि पति-पत्नी के सम्बन्धों में यह संयम जहर घोल देता है। जो बात समाज के सदर्भ में सभ्य और शालीन है, वही बात पति-पत्नी के सदर्भ मे गलत और अवास्तविक हो सकती है।

पति-पत्नी के सम्बन्धों का आधार ही दूसरा है—इस सम्बन्ध में एक नैसर्गिक कोमल पशुता है। यह सम्बन्ध बुद्धि से उतना संतुलित नहीं होता जितना कि हृदय से, और इसीलिए तर्क की उतनी गुंजाइश इसमें नहीं है। इस सम्बन्ध के बारे में तर्क हो ही नहीं सकता। किसी भी तर्क के सहारे इसे चलाया ही नहीं जा सकता…

घर से आफिस जाते हुए जब मैं तांगे पर बैठा तो मन में आया कि जब चित्रा के प्रति मैं कहीं उतना लगाव अनुभव ही नहीं करता तो वह बात मुझे क्यों काट रही थी? उसका सुमंत के साथ अकेले रह जाना मुझे क्यों बर्दाश्त नहीं हो रहा था?

आखिर वह कौन-सी चीज़ थी जो मुझे काट रही थी, मेरे दिमाग को कुतर रही थी। लगा था कि मैं अपनी पत्नी से जो सहज अपेक्षा कर सकता था, उसीके कारण यह भावना दिल-दिमाग में आई थी।

...कमज़ोर क्षणों को कोई नहीं जानता। पता नहीं कब, कहां और किसके लिए किसीके मन में कमज़ोरी पैदा हो जाए! दुनिया की किसी चीज़ पर मेरा एकात्म अधिकार नहीं था...मेरे वश में कुछ भी नहीं था और मेरा निज का तो शायद कुछ था भी नहीं। चित्रा पर भी एक एकात्म अधिकार नहीं था। उसकी बांहों और आंखों पर भी नहीं था... उसके मन पर तो कतई नहीं था। अगर था भी तो एक बनावटी और झूठा अधिकार, जिसकी घोषणा हर पत्नी करती रहती है और अपने पुरुष को सताती रहती है।

यों यह बात आज भी सोचते या कहते मुझे बहुत छोटा बनाती है और शायद कोई यह भी कह दे कि मैं निहायत असभ्य आदमी हूं, पर बिना कहे नहीं रहा जाता कि मैं अधिकारपूर्वक केवल एक ही बात कह सकता था। और वह यह कि चित्रा किसी दूसरे पुरुष से शारीरिक सम्बन्ध नहीं रख सकती। इस अधिकार के पीछे नैतिक और परम्परागत दोनों ही शक्तियां थीं और अपने इस अधिकार की रक्षा के लिए मैं किसी भी हद तक जा सकता था। हर पुरुष के पास यही एकमात्र अधिकार है जिसे वह किसी भी सीमा तक जाकर मनवा सकता है। इस अधिका

की रक्षा के लिए वह जघन्य से जघन्य अत्याचार कर सकता है'''इसी लिए मुझे लगता था कि चित्रा पर मेरा बस यही वश है कि मेरे होते हुए वह किसी अन्य से इस तरह के सम्बन्ध नहीं रख सकती।

और इसीलिए मैं अपने उस एकमात्र अधिकार की बात को बातों, ही बातों में ध्वनित करा देना चाहता था। लेकिन वह हुआ नहीं था।

शाम को वापस आया तो सुमत कमरे में ही था—वह एक ओर कोने में बैठा हुआ कोई पत्रिका पढ़ रहा था और चित्रा कमरे में नहीं थी। यह स्थिति मुझे अच्छी लगी थी। अच्छी तरह यह जानते हुए भी कि यह मात्र एक क्षण की स्थिति है—आखिर कमरा एक है और उसमे चित्रा आएगी ही और सुमत भी बैठेगा ही।

मेरे घुसते ही सुमंत ने पूछा था, "सुना, तुम कल बाहर जा रहे हो?"

"हां'''दफ्तर का काम है।"

"कब तक लौट आओगे?"

"यही दो-तीन दिनों में।" यह जानते हुए भी कि मैं एक सप्ताह से पहले नहीं लौटूंगा, मेरे मुह से ऐसे ही 'दो-तीन दिन' निकल गया था। शायद इसलिए कि सुमंत मेरी अनुपस्थिति की निश्चितता महसूस न करे। मैंने उसके चेहरे को गौर से देखा था। उसपर एक बनावटी संतुष्टि थी। जैसे कि कह रहा हो—तब तो कोई बात नहीं। और उसने मुझे और अधिक आश्वस्त करने के लिए ही कहा था, "मुझे भी शायद परसों दो-एक दिन के लिए बाहर जाना पड़े—प्रेस का काम है, असल में मुझे पत्रिका के लिए आगरा में एक विज्ञापन वाले से मिलना है। मालिक चाहते हैं कि मैं ही जाऊं।"

उसकी इस बात से मुझे बड़ी राहत मिली थी। पर एक क्षण बाद ही जब चित्रा कमरे में आई तो मुझे लगा कि सुमत की यह बात बनावटी है। स्थिति का जो टेढ़ापन था, शायद उसीके कारण सुमंत ने यह

योजना बना ली थी और उसे जाना-जवाना कहीं नहीं था।

हम तीनों ही जैसे अपने संशयों में डूब-उतरा रहे थे। चित्रा को कुछ कहना ही नहीं था। उसके चेहरे पर ऐसी तसल्ली व्याप रही थी जैसे कि अब सब ठीक हो गया—कम से कम वह निश्चित हो गई है।

"तुम्हारा जाना ज़रूरी है ?" मैंने अपने मन के चोर को दबाते हुए ऊपर से कहा था, "मैं भी जा रहा हूं···चित्रा अकेली रह जाएगी।"

यह सुनकर चित्रा पूरी तरह उबर आई थी और उसने बड़े मुक्त भाव से कहा था, "चाय के साथ कुछ और बना दूं···"

सुमंत ने सिर हिला दिया था, "कुछ बना दो तो अच्छा है भाभी, भूख तो लग रही है।"

और तब उस क्षण का उखड़ा-उखड़ा वातावरण एकदम ठीक हो गया था। हम तीनों ही अपनी-अपनी कीलियों पर जम गए थे और लगा था कि एक बार फिर हमारे रिश्ते सही जगह पर आ गए हैं। अब कोई ऐसी-वैसी बात नहीं है। अच्छा ही होगा कि सुमंत भी बाहर चला जाए, न भी जाए तो अब कोई ऐसी खास बात नहीं है।

"ठीक है···तुम्हें भी जाना ही है तो होते आओ···" मैंने कहा था, फिर चित्रा से पूछा था, "तुम्हें अकेला रहना पड़ेगा, कुछ दिनों।"

"तो क्या हुआ ! अब तो ऊपरवालों से भी जान-पहचान हो गई है। सभी जगहें जान-बूझ गई हूं। क्या फरक पड़ता है ! और वैसे भी तुम दोनों कौन दिन-भर घर में बैठे रहते हो !" चित्रा के कहने में खुलापन था। उसने यह कहते हुए सुमंत की ओर देखा भी नहीं था। जैसे उससे कुछ खास लेना-देना न हो।

दूसरे दिन मैं दौरे पर गया था। चलते समय सुमंत ने कहा था, "अभी तो मैं दफ्तर जा रहा हूं और आज शाम को मैं आगरा चला जाऊंगा।" यह उसने बहुत निश्चित शब्दों में कहा था।

मैं चला आया। हम रेडियो की जीप से ही जा रहे थे। पहला पड़ाव होना था हरिद्वार और उसके बाद जाना था उत्तरकाशी तक। 'गंगातट का जीवन' डाक्यूमेंटरी के लिए जगह-जगह से सामग्री इकट्ठी करते हुए और साउंड इफेक्ट रिकार्ड करते हुए।

बहुत अच्छी यात्रा थी। बेहद खुशनुमा। चार आदमी और भी थे साथ में। बड़ा ताम-झाम था। सब निश्चिन्त थे। कोई भी अपने घर के लिए चिंतित नहीं दीखता था। लगता था कि बाकी सब पिण्ड छुड़ाकर भागे थे। साथियों की राय थी कि इस दौरे को जैसे-तैसे बढ़ाकर पन्द्रह दिन का कर लिया जाए और हम लोग उत्तर-काशी से गंगोत्री और तिब्बत सीमा तक घूम आएं। मन मेरा भी था। पर यह होना सम्भव नहीं था। आफिस की जीप हमें ऋषिकेश पर ही छोड़ देनी पड़ी थी। वहां से ऊपर जाने के लिए ड्राइवर को पहाड़ पर गाड़ी चला सकने का सर्टीफिकेट चाहिए था और अपनी निपुणता की परीक्षा भी देना जरूरी था। ड्राइवर यह निपुणता प्रदर्शित कर सर्टीफिकेट लेने को तैयार था, लेकिन फिर भी उस भयानक पहाड़ी प्रदेश में गाड़ी चलाने को उत्सुक नहीं था। वह खतरा मोल नहीं लेना चाहता था।

अंततः हम गाड़ी ऋषिकेश में छोड़कर वहां की बस से आगे चल दिए। सभी को शुरू से ही इच्छा थी कि यह दौरा कुछ और दिनों के लिए बढ़ जाए और इसका तरीका एक ही था कि कुदरत हमारी मदद करे। कहीं रास्ते में 'लैण्ड स्लाइड' हो जाए या कोई पुल वगैरह ही टूट

जाए···तब हम बहुत आसानी से अपनी अटक जाने की बात बना सकते थे। रास्ते की ख़ूबसूरती और ताज़गी हमें सचमुच बांध रही थी। पर जैसे-जैसे शाम घिरती आ रही थी, मेरी आंखों के सामने वह कमरा नाच रहा था···कुछ पलों के लिए मैं प्रकृति की सुन्दरता में या साथियों की मज़ाकों में खो जाता, पर रह-रहकर दिमाग वहीं अटक जाता था। साथियों की निश्चितता देखकर मुझे ईर्ष्या हो रही थी और अपने ऊपर तरस आ रहा था। मुझे लगा कि दुनिया में शायद मैं सबसे अधिक शक्की आदमी हूं—आखिर इतने लोग हैं और सबों की बीवियां हैं··· इन्हें ये दुश्चिताएं क्यों नहीं सतातीं? क्या यह सब केवल मेरी ज़िन्दगी में ही है? क्या मैं ही इस सताई हुई ज़िन्दगी का एकमात्र व्यक्ति हूं? और मेरा मन घुटने लगता। मुझे अपने पर शक होने लगता। शायद मैं नार्मल नहीं था···शायद मुझे कुछ हो गया था।

रात को हम एक धर्मशाला में ठहरे थे। नीचे पुआल बिछा हुआ था, उसीपर हमने बिस्तर लगा लिए थे। सर्दी बहुत थी और आसमान में बादल थे।

कौल ने अपने बैग से बोतल निकालकर सामने रख दी थी और हम लोगों के साथ जशन मनाया था। तब कौल ने बताया था "यह मेरी शादी की सातवीं वर्षगांठ के उपलक्ष्य में है। आज मेरी शादी की वर्षगांठ है।"

"और तू यहां चला आया? बीबी मायके गई होगी।" शिवराम ने कहा था, "इसीलिए बच्चू यह रम से मनाई जा रही है।"

"यह बात नहीं है, दोस्त।" कौल ने कहा था, "बीबी सौ फीसदी घर पर है, पर दोस्त, इधर घूमने-घामने का मौका कहां हाथ आता है!"

कुछ ही देर बाद चारों साथी कुछ थकन और कुछ नशे में पड़कर सो गए थे। मुझे भी एक झपकी आई थी। पर कुछ देर बाद ही आंख

खुल गई। मेरी सारी चेतना दिल्ली के उस कमरे में अटकी हुई थी। जैसे मैं उस पहाड़ी धर्मशाला में नहीं'''उस कमरे के बाहर गली में चुपचाप सांस साधे हुए खड़ा था। मेरे कान कमरे की आहटें ले रहे थे। कुछ देर मुझे कुछ सुनाई नहीं दिया था—मैं जैसे निश्चिन्त होकर लौटने लगा कि तभी कुछ आहट हुई। चित्रा ने उसी तरह सास ली थी; जब सोते में उसपर मैं कभी हाथ रख लेता था'''और फिर वही कुनमुनाहट, और उसके बाद वही सधी हुई खामोशी। एक कमरे में तीन व्यक्तियों के होने का अहसास'''और चोरों की तरह शरीर के ताले तोड़ते हुए दो व्यक्ति।

मेरी सास रुकने लगी थी। मैंने घबराकर उन सोते हुए चारों साथियों की ओर देखा था। वे निश्चिन्त सो रहे थे। मैं और भी कसमसा उठा था। मन इतना छटपटा रहा था कि मैं एक पल में ही दिल्ली के आरामनगर के उस कमरे में पहुंच जाना चाहता था और सबकुछ तोड़-मरोड़कर फेंक देना चाहता था। कुछ देर बाद मैं प्रकृतिस्थ हुआ था और मन ने तरह-तरह के तर्क किए थे। हर तरह से सोच लेने के बावजूद मेरा मन मान नहीं रहा था। लगता था कि मेरा वह एकांतिक अधिकार भी अब नहीं रह गया है'''अब मेरे पास कुछ भी बाकी नहीं बचा है। उस रात धर्मशाला में मैंने बार-बार सोने की कोशिश की, पर नींद नहीं आई थी और संशय के सर्प-दंशों में मैं नीला पड़ गया था।

उस रात के बाद मेरा मन नहीं लगा और जैसे-तैसे काम पूरा होते ही मैं भागा था। सातवें दिन जब मैं घर वापस पहुंचा था तो सुमत नहीं था। चित्रा कपड़ों पर इस्त्री कर रही थी। मुझे देखते ही वह खिल उठी थी'''

और मुझे लगा था कि उसने एक धुली हुई कमीज बहुत चतुराई से अपनी एक साड़ी के नीचे छिपा दी थी। मैं कुछ देर तक उसे यात्रा का हाल सुनाता रहा, पर मेरा ध्यान उसी छुपाई हुई कमीज में अटका था।

मैं चाह रहा था, किसी तरह चित्रा बाहर जाए और मैं उसे देख लूं...

पर चित्रा कमरे से टल नहीं रही थी, बल्कि वह मुझे ही कुछ देर के लिए वहां से हटा देना चाहती थी। मेरी बातें सुनते-सुनते वह एकाएक बोल पड़ी थी, "तुम हाथ-मुंह धो लो तब आराम से सुनाना..."

"यहीं ला दो पानी..." मैंने कहा था।

"यहां, कमरे में...कहां धोओगे...इतना आलस नहीं करते, जाओ धो लो। तबियत कुछ हलकी हो जाएगी। तब तक मैं चाय बना दूंगी।"

हम दोनों ही जैसे अपने-अपने में सचेत थे।

"अब आयरन बाद में करूंगी।" कहते हुए उसने कपड़े समेटे थे तो उस साड़ी को गुड़ीमुड़ी ही उठा लिया था और सारे कपड़ों को कोने वाले ट्रंक के ऊपर रख दिया था। इस्त्री किए हुए तीन-चार कपड़ों को उसने ट्रंक के भीतर डाल दिया था। अब वह कुछ निश्चिन्त-सी हो गई थी।

आखिर वह चाय बनाने के लिए स्टोव जलाने लगी और मैं वैसा ही बैठा रहा। जब वह पानी लेने गई तो मैंने लपककर साड़ी के नीचे छिपी हुई कमीज़ को पहचानना चाहा था। पर उसके वापस आने तक मैं ठीक से देख नहीं पाया था। फुर्ती से मैं अपनी जगह आकर फिर बैठ गया था। हमारे सारे काम कमरे में ही होते थे, अतः उसके बार-बार बाहर जाने का सवाल नहीं उठता था।

"सुमंत बाहर जाने वाला था...हो आया?" न चाहते हुए भी यह प्रश्न मेरे मुंह से निकल ही गया था।

"उनका प्रोग्राम नहीं बना।" चित्रा ने इस बात की भीतरी मरोड़ को समझते हुए बहुत ही अचकचाकर जवाब दिया था। जैसे उस बात के लिए वही दोषी हो...मैंने बहुत खामोशी से एक पल के लिए उसे ताका था, तो उसके माथे पर पसीना छलछला आया था।

कुछ देर बेहद अर्थभरी खामोशी छाई रही थी। हम दोनों अपनी

अपनी जगह बैठे हुए बड़ी बेढंगी स्थिति में कैद थे। फिर वह कुछ बुद-बुदाई थी।

उस मनहूस खामोशी को तोड देने के लिए मैं भी छटपटा रहा था। धीरे से पूछा, "तुमने कुछ कहा ?"

"चीजें बहुत मंहगी हो गई हैं। समझ में नही आता कि कैसे चलेगा ? वहां खाने-पीने को ठीक से मिल जाता था ?" उसके दोनों वाक्यों की कोई सगति नही थी।

"रास्ता बेहद खूबसूरत था···पर आदमी बहुत गरीब हैं वहां के।" मैं बोला था।

"अरे हां, अभी याद आ गया···मकान-मालिक पानी का पैसा माग रहा था। सात-आठ महीने से उसे पैसा नही मिला है, हमी दे देंगे···तो तुम्हारा काम तो सब पूरा हो गया ?"

"इस कमरे में तो अब दम घुटता है।"

"पहाड़ों पर घूमकर आए हो न, इसलिए···"

"बाबूजी का कोई खत आया ?"

"नहीं···"

"तुमने भी नहीं लिखा होगा···बहुत दिन हो गए, कोई हालचाल नही मिला।"

"इतने दिन तो मेरे लिए बनवास हो गया था···कोई काम करने में मन ही नहीं लगता था···अकेले पडे-पड़े भी जी ऊब जाता था।"

"उधर ऊनी चादरें बहुत सस्ती मिल रही थी, पर इतने पैसे ही पास नही थे जो लेता आता···"

"चाय और लोगे ? है।"

"तुम ले लो।"

"बाहर जाना तो जरा चाय की पत्ती की याद रखना, छोटा पैकेट लेते आना···"

"खत्म हो गई···"

"हां···तुम्हारे पीछे एक रात यहां कमरे में बिल्ली घुस आई। पता नहीं कैसे दरवाजा खुला रह गया···यह भीतर वाला—मैं तो इतना डर गई कि फिर तीन-चार घंटे नींद ही नहीं आई···सोचा बाहरवाला दरवाजा खोलकर निकाल दूं, चिटकनी खोली तो बाहर से बन्द।···बड़ी मुश्किल हुई···" वह कह रही थी तो मैंने पूछ लिया था—"क्यों ?"

"वह बाहर लेटता था न···" चित्रा ने कहा था और उसके मन का बोझ जैसे उतर गया था। शायद इस एक बात की सूचना के लिए ही हम निरर्थक और संगतिहीन बातें करते रहे थे। इतनी देर तक वह घुमा-फिराकर इसी बात तक पहुंचना चाहती थी। यह सूचना वह मुझे हर हालत में दे देना चाहती थी कि सुमंत बाहर गली में सोता रहा है।

और मुझे लगा था कि बिल्ली ने कितना बड़ा सहारा चित्रा को दिया था ! अगर वह कमरे में न आई होती तो शायद चाहते हुए भी इतनी चतुराई से वह मुझे इस बात की खबर न दे पाती।

"सुमंत को तो बड़ी तकलीफ हुई होगी। वह गली में लेटने का आदी नहीं है···" फिर अपनी ही बात को मैंने मोड़ दिया था, "हम लोगों के कारण उसे बहुत तकलीफ हो रही है।"

"मैं खुद तुमसे यही कहना चाहती थी···पर कहते इसलिए डरती थी कि कहीं तुम कुछ और न समझो। आखिर तुम्हारा भाई है।" चित्रा ने बड़ी चतुराई से अपने को सारी स्थिति के जाल से काट लिया था।

मैं कुछ देर चुप ही बैठा रहा था।

"कहीं और कोई एक कमरा नहीं मिल सकता ?" उसने अब साहस से मेरी ओर देखते हुए पूछा था। और मैंने उसकी आंखों में सच और झूठ की भाषा पढ़नी चाही थी।

"मिल तो सकता है, पर तलाश करने का वक्त भी तो हो।"

"किसी इतवार को यही काम कर डालो···"

और इन अपनत्व-भरी बातों के बीच चित्रा मुक्त हो गई थी। उसके मन का बोझ जैसे सरक गया था और वह प्याले धोने के लिए गुसलखाने में चली गई थी।

मैंने धोती के नीचे छिपी कमीज़ को निकाला था—वह मेरी ही थी।

उस वक्त मुझे अपने पर बेहद ग्लानि हुई थी। अपनी इस क्षुद्रता पर बहुत पीड़ा हुई थी और चित्रा एकाएक बहुत पवित्र-सी लगने लगी थी।

•

कुछ देर पहले उसकी बातों में मुझे जो चतुराई दिखाई दी थी, वह भोलेपन मे बदलती लगी थी। मैंने अपने से ही प्रश्न किया था कि आखिर यह संदेह क्यों मेरे मन में पैठता गया है? और उस दिन मुझे लगा था कि इस शक का कोई आधार नहीं है।

वह प्याले धोकर लौटी तो मैंने बहाने से उठकर उसे पकड़ा था और बांहों में लेकर प्यार कर लिया था। वह जैसे विभोर हो गई थी। यह उसके लिए लगभग एक अनहोनी ही बात थी। शायद इस तरह प्यार के उफान को उसने तब तक उठते नहीं देखा था और न वह इस बात की आदी ही थी कि मैं उसे जब-तब इस तरह प्यार कर लू।

"आज तुम्हें क्या हो गया है?" उसने प्याले रखकर बहुत प्यार से देखते हुए कहा था।

"सुमंत कब आएगा?" मैंने पूछा था। अब सुमत का नाम लेकर बात करने में मुझे कोई हिचक या कठिनाई नही थी।

"क्यों?"

"ऐसे ही, पूछ रहा हूं।"

"क्या पता !"

"कुछ कहकर नहीं गया है ?"

"नहीं ।"

"तो फिर…"

"मेरे खयाल से जल्दी ही लौटेगा ।"

"तो फिर आज भी उसे बाहर ही सुलाया जाए ।"

"नहीं । आज वह ज़रूर यहीं सोएगा, कहेगा भी तो मैं ज़बरदस्ती यहीं सुलाऊंगी ।" कहते हुए उसने शरारत से मुझे घूरा था ।

"वह समझदार है ।"

"और तुम ।"

"मेरी-उसकी ज़रूरतों में फर्क है ।"

"शर्म नहीं आती तुम्हें…" कहकर वह खुद जैसे शर्म से गड़ गई थी ।

और आज…जब मैं उस क्षण को याद करता हूं तो लगता है कि वह क्षण फिर बार-बार नहीं आया । इतनी आत्मीयता का क्षण फिर नहीं लौटा । हालांकि ऐसा क्षण बहुत अधिक अर्थ नहीं रखता, फिर भी उस कुछ ऐसा था, जो आज भी हलके-से कुरेदता है । लगता है कि वह क्ष या तो बहुत ही वास्तविक था या फिर एकदम झूठा । बीच की स्थि नहीं थी । और यह जानना एकदम नामुमकिन है कि वह कैसा थ आज तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता ।

और अब उसका अर्थ भी क्या रह गया है ! यदि वह क्षण वास्त भी था तो भी उसका प्राप्य ? कुछ भी नहीं । ऐसे क्षणों की को जोड़कर रखूं तो भी कुछ नहीं होता…और आज तो इस

मतलब भी नहीं रह गया है। शायद इसका मतलब तब होता जब 'विवाह' का भी कोई अर्थ होता। जिन्दगी के सन्दर्भ में जब इस सामाजिक संस्था का ही कोई अर्थ नहीं रह गया है, तो उन क्षणों की आत्मीयता ही बेमानी है। प्रवंचना है।

छल के सिवा अब इस रिश्ते में बाकी क्या बचा है? यही कि व्यक्ति स्वयं को छलता रहे और दूसरे द्वारा छला जाता रहे। मेरे खयाल से अब मक्कारों के विवाह ही सफलतम सिद्ध हो सकते हैं। या फिर बुद्धुओं के। नहीं तो वह अब एक सतत अत्याचार और अनाचार के रूप में सिमटकर रह गया है।

वैवाहिक अपेक्षाओं की पूर्ति में संलग्न व्यक्ति कितना भद्दा और बेहूदा लगता है! शायद इसलिए और भी ज्यादा कि विवाह का वह परम्परागत स्वरूप अब नष्ट हो चुका है…उसकी सामाजिक अपेक्षाएं बदल गई हैं।

यह सब सोचता हूं, पर किसी अन्त तक नहीं पहुंचता। शायद सोचने से ज़िन्दगी के संतुलन खोजे भी नहीं जा सकते—उन्हें जीकर प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए मैंने जीना स्वीकार किया—ताकि ज़िन्दगी खुद अपने नतीजों तक पहुंचे।

और जो नतीजा अब धीरे-धीरे निकल रहा है, वही सत्य है…संतुलन है आज के इन संबंधों का।

रात को जल्दी ही सुमन्त लौट आया था। आते ही उसने कहा, "अरे भैया, तुम आ गए। मैं इसीलिए जल्दी लौटा कि भाभी अकेली होंगी…"

"यह तो बहुत पहले ही आ गए थे।" चित्रा ने बताया तो उसने मज़ाक करते हुए कहा, "एक रोज़ बड़ा मज़ा हुआ…रात को कहीं कमरे में बिल्ली घुस आई…उधर भीतर वाला दरवाज़ा शायद खुला रह गया था…फिर अंधेरे में बिल्ली की भाभी से जो भिड़न्त हुई वह बहुत ही

मजेदार थी। असल में बाहर से मैंने कुण्डी बन्द कर दी थी···गली में लेटा था न···सो, बिल्ली भीतर वाले दरवाजे से भागने को तैयार ही नहीं थी और भाभी का दम खुश्क हो रहा था···

सुमंत कुछ ज़्यादा ही रस लेकर उस नीरस घटना को बता रहा था कि चित्रा ने उसपर सचाई की परत चढ़ाते हुए जोड़ दिया, "दम खुश्क होने की बात ही थी, ज़रा से में पंजा ही मार देती···और जब मैंने भीतर से चिटकनी लगा ली थी तो तुम्हें बाहर से बंद करने की क्या ज़रूरत थी ?"

दुबारा उसी बात को सुनकर मैं ऊब उठा था। दरवाजे के भीतर और बाहर से बन्द होने पर दोनों ही बड़ी सहजता से ज़ोर दे रहे थे··· जैसे बार-बार मुझे यह जता रहे हों कि सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही थी और दोनों ही इस सम्बन्ध में बहुत सतर्क थे।

तभी मुझे उसमें झूठ की गंध लगने लगी थी। यह कोई इतना बड़ा हादसा नहीं था, जिसे दस बार मेरे सामने दोहराया जाए।

···अपने को बहुत सहजता से दोनों ने प्रकट किया था। और उन पिछले सात दिनों में अपने अलग-अलग रहने की स्थितियों को ही दोहराया था।

···यही कि जब मकान-मालिक आया तो मैं नहा रहा था। इन पिछले सात दिनों में काम इतना ज़्यादा था कि कमरे में आधा घंटे से अधिक रुकने का मौका ही नहीं हुआ। कि चार रातों को तो वह बाहर से ही खाकर लौटा ताकि चित्रा को जगाना न पड़े···बल्कि एक रोज़ तो पैंट पहने-पहने ही सोना पड़ा क्योंकि रात बहुत हो गई थी और उस वक्त दरवाज़ा भड़भड़ा कर चित्रा को जगाना बहुत अजीब लगता।

अनजाने ही दोनों की बातों से उन सात दिनों का कुछ ऐसा खाका उभरा था कि जैसे वे एक-दूसरे से बात तक न कर पाए हों। मेरे रहते तो कुछ बात हो भी जाती थी, पर मेरी अनुपस्थिति में तो सब गड़बड़ा गया

था। वे एक प्याला चाय भी साथ पीने का मौक़ा नहीं निकाल पाए थे।

ये बातें इतनी बार और इतनी तरह से मेरे सामने आती रही कि मन झुंझला-झुंझला उठता था।

धीरे-धीरे वह कुण्ठा की गाठ कस-कसकर छोटी होती गई और अपने कहे हुए के मुताबिक वे दोनों मेरे सामने भी कुछ दिनों तक अपने-अपने में उसी तरह व्यस्त रहे जैसे मुझे यह दर्शाना चाहते हों कि उन सात दिनों में भी कुछ ऐसी ही स्थिति रही थी।

लेकिन उनकी आखो में कुछ बदला हुआ था और वे मुझे अहसास करा-कराके सहजतापूर्ण कठिनाई से कतराते थे। एक ही कमरे में चलते फिरते हुए भी वे दोनों अब पहले से ज्यादा दूरी रखकर गुजरते या बैठते थे। उनके संबंध में हल्की-सी दिखावटी औपचारिकता की बू आने लगी थी। प्लेट पकड़ाते वक्त या रोटी देते वक्त चित्रा इस बात का ख्याल रखती दिखाई देती थी कि कही उसका हाथ सुमन्त के हाथ से छू न जाए। कभी जल्दी की धुन में सुमन्त पहले चित्रा को हटाकर अपने बक्से से कपड़े निकाल लेता था, पर अब वह ध्यान देकर इतजार करता था। और इस बात का अहसास अब चित्रा को ज्यादा होने लगा था कि सुमन्त क्या चाह रहा है। पहले वह निर्विघ्न अपना काम करती रहती थी, पर अब उसमें एक सजगता आ गई थी कि सुमन्त को जब कपड़े निकालने होंगे तो वह बिना देखे ही वहां से हट जाएगी।

लगता था कि जैसे चित्रा का शरीर और उसकी सारी इन्द्रिया किसी गहरे अहसास से चालित होने लगी हैं, कि उसकी पीठ भी अब किसी की जरूरत को देखने लगी है।

सतह पर एक दूसरे तरह की दूरी थी और सतह के नीचे एक प्रगाढ़ निकटता भी। अब वे बहुत खुलकर बात भी नहीं करते थे। हा, इतना जरूर होता कि जब सुमंत नहाता होता तभी चित्रा को सहसा प्याले धो लाने का ख्याल आता और वह हाथ का काम छोड़कर भी उन्हें धोने

लिए उठ जाती ।

...और एक दिन जब वह प्याले धोकर लौटी थी तो उसकी कनपटी र साबुन का झाग लगा हुआ था । उसे शायद उसने पोंछा भी था पर अनजाने ही थोड़ा-सा पुछने से रह गया था ।

उसने तब यह भी खयाल किया था कि मैं आंख चुरा-चुराकर उसके चेहरे की तरफ देख रहा हूं और वह चम्मच ढूंढती हुई खिड़की में रखे-शीशे के पास बहाने से आई थी, अपना चेहरा देखकर फिर चम्मच ढूंढना भूल गई थी और सब्ज़ी काटने लगी थी ।

मैंने कनस्तर के पास पड़ा चम्मच उठाकर उसे पकड़ा दिया था तो वह सब्ज़ी काटना छोड़कर चम्मच से कटोरी में घी निकालने लगी थी । वह एकाएक बहुत ही अस्त-व्यस्त हो उठी थी । कनपटी पर लगा झाग उसने पोंछ लिया था और कनखी से मेरी ओर देखा था । मुझसे आंख मिलते ही उसने ज़रूरत खोज ली थी, "ज़रा वह तश्तरी पकड़ा देना ।"

मैंने तिपाई पर रखी तश्तरी पकड़ा दी थी, तो उसमें उसने प्याज निकालकर रख लिया था ।

और इन सब कामों की फिर कोई संगति नहीं थी । वह भीतर ही भीतर बेहद घबराई हुई थी ।

उसका शरीर कुछ वैसे ही पसीज रहा था, और अंगों में कुछ वैसा ही कम्पन था, जैसा कि पहली-पहली बार मैंने अपने अजनबी हाथों से उसे छूते वक्त महसूस किया था ।

उस दिन तो मैंने उसे छुआ नहीं था...पर शायद मेरी नजरों उतने ही अजनबीपन से उसे नंगा किया था, जितने कि पहले दिन हा ने किया होगा ।

बेहद बेबसी में आबद्ध थी चित्रा । और मेरे दिल में गुबार उठ थे । दिमाग मेरा फटा जा रहा था । मन में आया था कि कमीज़ कर चल दूं और फिर कभी वापस न आऊं । किसीसे कुछ भी न कहूं

स्थिति को स्वीकार कर लूं और अपनी अकेली राह पर चला जाऊं।

उसी हालत में रेडियो स्टेशन पहुंचा था। ड्यूटी रूम में बैठकर क्यू-शीट देखने लगा, तो भनक पड़ी कान में—श्रीमती शिवदसानी के किस्से की। ड्यूटी आफीसर शर्मा बता रहा था कि—कल रेडियो के अहाते में ही बड़ा गुलगपाड़ा मचा। (शिवदसानी एक्सटरनल सर्विसेज़ में एनाउन्सर थीं)। रात की बात है। अभी ट्रान्समिशन खत्म नहीं हुआ था कि मिस्टर शिवदसानी टैक्सी में आए और उससे बोले 'अभी मेरे साथ घर चलो। इसी वक्त।'

मिसेज़ शिवदसानी घबरा गई थी, बोली, "यह नहीं हो सकता। रेडियो की प्रेमिसेज़ में अगर तुम गलत तरीके से पेश आओगे और ड्यूटी पर होते हुए मेरे साथ बदतमीज़ी करोगे तो मैं अभी गार्ड्स को बुलाकर तुम्हें अरेस्ट करा दूंगी। चले जाओ यहां से!"

मिस्टर शिवदसानी ने पिस्तौल निकाल ली थी! "चलती है मेरे साथ या नहीं?" उसपर खून सवार था। वह बकता जा रहा था, "मैं जानता हूं तू कहां जाएगी यहां से।"

और मौका पाते ही मिसेज़ शिवदसानी ने स्टुडियो में घुसकर जान बचाई थी। आखिर जैसे-तैसे मामले को वहीं दबाया गया और मिस्टर शिवदसानी को रेडियो स्टेशन से बाहर निकाला गया। वह ट्रान्समिशन खत्म होने तक बाहर गेट के पास टहलता रहा। इस इंतज़ार में कि वह निकलकर आएगी। मिसेज़ शिवदसानी की गाड़ी खड़ी हुई थी।

मिसेज़ शिवदसानी ने उसी वक्त अपने उस कर्नल को फोन किया और वह पिछले गेट से आकर उसे ले गया। ड्यूटी भी उसने पूरी नहीं की। आखिर एनाउन्समेंट खुद ड्यूटी आफीसर ने किया। फिर पता नहीं शिवदसानी कब चला गया।

सुबह मिनिस्ट्री का एक आदमी आया था और मिसेज़ शिवदसानी को गाड़ी में ले गया था। अब पता नहीं आगे क्या हुआ? अब वह कर्नल

पास ही रहेगी। कर्नल उसे छोड़ेगा नहीं, बड़े पुराने सम्बन्ध हैं। शायद
सका रेज़िगनेशन आ जाए। उसे अब ज़रूरत भी क्या है नौकरी करने
ी…

ड्यूटी आफीसर जब यह सब बता रहा था तो मैं फिलर निकाल रहा था। असिस्टेंट प्रोड्यूसर एनाउन्समेंट लिखकर रख गया था। गनीमत यही थी कि मुझे नहीं लिखना था, नहीं तो उस रोज़ बड़ी गलतियां होतीं।

ड्यूटी आफीसर की बात में वहां बैठे सभी रस ले रहे थे और मेरा सिर बुरी तरह भन्ना रहा था। तभी चावला ने मज़ा लेते हुए जोड़ा था, "यार पहले से तो उसे संभालकर रखा नहीं। वह तो कर्नल के साथ बरसों से घूमती है। दसियों बार वह कर्नल उसे यहां ड्यूटी पर छोड़ने आया है और लेने आया है। अब जब मामला इस हद तक पक गया तो पिस्तौल लेकर आया? बुजदिल था शिवदसानी…"

पता नहीं क्यों मुझे यह सब सुनना बर्दाश्त नहीं हुआ था और मैं अपने कागज़-पत्तर और रिकार्ड वगैरह उठाकर सीधा स्टूडियो में चला गया था। फेडर आन किया था तो प्रोग्राम आने लगा था…मीराबाई पर वार्ता आ रही थी, जिसमें बीच-बीच में भजन टंके हुए थे…सब कुछ बेजान-सा लग रहा था। लगा था कि मैं एक मुर्दा दुनिया के बीच घिरा हुआ हूं…एक ऐसी दुनिया में जिसका कोई सम्बन्ध मेरी या मुझ जैसों की ज़िन्दगी से नहीं है। दिन-भर यहां से यही सब ऊटपटांग ब्राडकास्ट होता रहता है, जिसे न कोई सुनता है, न समझता है।

आवाज़ों की दुनिया। सेण्ट्रल कंट्रोल रूम में सैकड़ों आवाजें भरी हुई थीं। इंजीनियर व्यस्त थे। आवाज़ें एक-दूसरे को काटती ऊंची उठती जा रही थीं…कुछ आवाजें डूबती जा रही थीं। किसी ड्रामे की सिसकियां, कराहें और चीखना और किसी भाषण की तेज़ आवाज और उधर अंग्रेज़ी में न्यूज़रील के इफेक्ट्स। चलती मशीनों का शो

चीखते हुए इन्सान और उनके बीच उभरती हुई सिसकियां।

आवाज़ें···आवाज़ें···सिर्फ आवाज़ें।

और उतनी ही आवाज़ें मेरे भीतर थीं जिनका कोई अर्थ नहीं था। एक बेमानी शोर भरा हुआ था। ऐसा शोर जिसमें कोई बात साफ नहीं सुनाई पड़ती थी। घुमड़ते हुए स्वर और एक दूसरे को काटती ध्वनियां।

जैसे-तैसे मैं काम करता रहा। मुझे नहीं मालूम कि मैंने कब क्या एनाउन्स किया—हर बार बोल चुकने के बाद मेरी आंखें 'पीपहोल' पर टिक जाती थीं कि अभी मुझे ड्यूटी अफसर का चेहरा वहां दिखाई पड़ेगा, वह घबराया हुआ भीतर आएगा और कहेगा कि यह सब क्या हो रहा है, नरेश? होश में हो या नहीं?

लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। क्योंकि एनाउन्समेंट करने में दिमाग लगाने की आदत छूट चुकी थी—यह एक बना-बनाया ढर्रा हो गया था, जो अपने-आप आदतन चलता चला जाता था।

दो घंटे बाद ही मेरा मन उचट गया था। मैंने बहुत सख्त पेटदर्द का बहाना बनाया था—इत्तफाक से ग्रामीण प्रोग्राम का एनाउन्सर वहां मौजूद था और वह मेरी जगह एनाउन्समेंट कर देने के लिए तैयार हो गया था। पैक्स ने भी मेरी बात सुन ली थी। और मैं रिलीव हो गया था।

कमरे पर जाने को मन नहीं था, पर उसके सिवा कहीं और जाने का सवाल भी नहीं उठता था। सीधा वहां पहुंचा तो देखा, ताला बंद था। कुछ अचरज हुआ। चित्रा कहीं आती-जाती नहीं थी। अगर भीतर मकान में किसी परिवार के पास गई होती तो इधर गली से ताला बंद करने की कोई जरूरत नहीं थी, भीतर से चिटखनी चढ़ाकर जा सकती थी।

सामनेवाले पंजाबी परिवार ने मुझे गौर से देखा तो लगा कि शायद वे लोग मुझे कुछ बताना चाहते हैं। एक पल मैं ठिठका, पर चूंकि

उनसे मेल-मिलाप और बोलचाल का सिलसिला नहीं था, अतः वे भी चुप रहे। मैं गंदी गली में होता हुआ धीरे-धीरे लौट आया। कहां जाऊं, समझ में नहीं आ रहा था। चित्रा कहां जा सकती है, यह भी समझ में नहीं आ रहा था। वक्त गुजारने के लिए मैं नई दिल्ली स्टेशन की ओर चल दिया। सोचा, वहां रेस्टोरेंट में एक प्याला काफी पी लूंगा और लौटकर चित्रा से सब बातें खुलकर करूंगा।

मैं नई दिल्ली स्टेशन की सीढ़ियों के पास पहुंचने ही वाला था कि ऊपर से सुमंत और चित्रा मुझे आते दिखाई दिए। मेरी सांस जहां की तहां अटकी रह गई। बदहवासी में कुछ सोच भी नहीं पाया...यह भी नहीं हुआ कि सीढ़ियों पर चढ़कर उनके सामने पहुंच जाऊं।

एकाएक टेलीफोन बूथ में घुसकर मैंने उसका दरवाजा बंद कर लिया था। उनकी निगाह उधर नहीं गई थी। टेलीफोन के बूथ थे भी कोने में। वे दोनों उतरकर हाल की ओर बढ़ गए। मैं शीशे के पार से जितना देख पाया था, उतना ही मेरे लिए काफी था।

सुमंत चित्रा के कंधे पर हाथ रखे हुए बड़े मुक्त भाव से धीरे-धीरे चल रहा था और चित्रा हंसती हुई उससे कुछ कह रही थी। उसके बाद दीवार का कोना आ गया था और वे मेरे दृष्टिपथ के परे हो गए थे।

मेरे सामने सब बातें स्पष्ट हो गई थीं। अब बाकी कुछ भी नहीं रह गया था। बूथ से निकलकर मैं प्लेटफार्म पर चला गया था—लेकिन नजर के सामने कुछ भी साफ नहीं था। वहां भी वही शोर और आपाधापी थी। पर उस शोर में जैसे बड़ी राहत थी। उस वातावरण में मैं अपने को कहीं किसी अनजान स्टेशन पर छूटा हुआ महसूस कर रहा था।

चाय पीते-पीते दो ही बातें समझ में आती थीं—या तो हिंस्र पशु की तरह मैं चित्रा के साथ पेश आऊं...उसकी चमड़ी उधेड़ दूं या फिर चुपचाप उसकी जिन्दगी से निकल जाऊं। तीसरा रास्ता तो कोई था नहीं। यही दो अधिकार हैं पति के पास—या तो वह गंवारों की तरह पेश आए और जानवर की तरह सब कुछ स्वीकार ले और इस टूटी हुई जिन्दगी की हर तकलीफ झेले...या आदमी की तरह अपनी हार मानकर चुपचाप रास्ते से हट जाए।

मुझे अंदाज था कि चित्रा गर्भवती भी है।

बहुत देर बाद मैं थके कदमों से वापस कमरे में आया था। चित्रा ने दरवाजा खोला तो मुझे देखकर उसने कोई आश्चर्य प्रकट नहीं किया था। बस इतना ही पूछा, "क्यों, क्या बात है? इस वक्त...ड्यूटी खत्म हो गई?"

"कुछ नहीं...ऐसे ही।"

"कोई बात तो होगी!"

"नहीं।"

"आराम कर लो...!"

"यही सोच रहा हूं।"

"चाय तो नहीं पीओगे।"

"नहीं।"

उसे देखकर मेरे मन का गुबार खुद-ब-खुद निकल गया था। लगा था कि अब बात करने के लिए क्या रह गया है? ऐसा क्या है जो पूछूं? पूछने से खुद ही मैं अपने को छोटा करता। और पूछने का वास्तविक अधिकार तो शायद तभी होता जबकि चित्रा ने कभी कहा होता कि वह मुझे ही प्यार करती है। शादी तो इस बात की गारंटी नहीं है कि पुरुष और नारी प्यार भी करेंगे ही।

यह रिश्ता तो सिर्फ रहम का रह गया है। इसके अलावा और क्या

है इसमें ? नारी पुरुष पर रहम करके उसकी वासना की तृप्ति के लिए अपना शरीर दे देती है और पुरुष उसपर रहम करके उसे सुरक्षा प्रदान कर देता है। अंततः यह रहम ही उन दोनों को जोड़े रहता है। जहां यह रहम नहीं रह जाता, वहां सब कुछ टूट जाता है।

यही तो था हमारे बीच।

मैंने कुछ भी कहा नहीं था।

मन में एक बार आया था कि पिताजी को सारी बातें बता देना उचित होगा, लेकिन उससे भी क्या हासिल होना था ! उन्हें इस बुढ़ापे में यह सब बर्दाश्त नहीं हो पाता। उनके संस्कार ही अलग थे···शायद वे तो इस झटके से दम ही तोड़ देते।

काफी देर लेटे रहने के बाद मैंने चित्रा से कहा था, "मैं यहां से ट्रान्सफर करा रहा हूं।"

"क्यों ?"

"यहां की जिन्दगी मेरे वश की नहीं।"

"क्या हुआ ?"

"तुम्हीं सोच लो।"

यह सुनकर वह मुझे ताकती रह गई थी। उसने कोई उत्तर नहीं दिया था। और मेरा गुस्सा भड़क उठा था। अपने को मैं रोक नहीं पाया था। बहुत गम्भीर आवाज में मैंने इतना ही कहा था, "अब हमारे-तुम्हारे सम्बन्धों का कोई अर्थ नहीं रह गया है।"

"यह तो तुम्हीं सोच सकते हो।" उसने कहा था।

"मेरे सोचने की इसमें क्या बात है ?"

"तो और कौन सोचेगा ?"

और बात करते-करते मुझे लग रहा था कि मुझसे चित्रा नहीं, सुमंत बात कर रहा है। मैं झुंझला उठा था। मैंने सिर्फ इतना ही कहा था, "मैं ट्रान्सफर करा लूंगा और अकेला ही चला जाऊंगा। इसमें तो

तुम दोनों को आपत्ति नहीं होगी ।"

"तुम्हारी बातें मेरी समझ में नहीं आ रही हैं। पता नहीं क्या अंट-शंट सोच लेते हो'''खैर ठीक है।" कहकर वह रोने लगी थी।

मैं खामोश लेटा रहा था।

इन बातों के बाद घर में सन्नाटा छा गया था। हर काम होता था पर जैसे तीनों मे से कोई भी एक-दूसरे को नही पहचानता था। सुमंत बहुत घुटा-घुटा रहने लगा था। उसने उस दिन के बाद मुझसे आंख नहीं मिलाई और न कोई बात ही की। मैं सोचता था कि कम से कम वह कभी बात करेगा, और, झूठ ही सही, इन सब बातो को मेरा शक बताएगा और मुझे तमाम वास्ते देगा। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ।

चित्रा का तो जैसे हम दोनो मे से किसी से सम्बन्ध नही रह गया था। वह किसीसे बात नहीं करती थी। खाना बनकर वक्त से सामने आ जाता था, जिसे जितना खाना होता था, खाकर प्लेटें दरवाज़े के पीछे सरका देता था और चला जाता था।

ऐसी हालत में रह सकना मेरे लिए सम्भव नही था। आखिर एक दिन पन्द्रह दिन की छुट्टी लेकर मैं भोपाल चलने लगा था तो चित्रा ने यह भी नहीं पूछा था कि कब लौटकर आओगे। इतना ही बोली थी, "वहां मेरा सबसे प्रणाम कह देना।"

बर्दाश्त करने की अद्भुत क्षमता थी चित्रा में। वह कुछ भी कहने या मानने में विश्वास नहीं करती थी। अजीब था उसका अहम्।

भोपाल में पूछताछ हुई थी कि चित्रा क्यों नहीं आई तो मैंने उसकी हालत का वास्ता देकर सबको शांत कर दिया था। इस खबर से कि वह मां बननेवाली है—सबों के चेहरों पर खुशी झलक आई थी।

वहीं से मैंने उसे पत्र लिखा था :

"अब मैं दिल्ली नहीं लौटना चाहता। नौकरी करने का चाव भी मन में अब बाकी नहीं रह गया है। नौकरी ही क्या, अब कुछ भी करने लायक मैं नहीं रह गया हूं। मेरा मन टूट गया है। दिल्ली में तो अब मैं एक दिन भी रहना बर्दाश्त नहीं कर सकता। मुझसे सहा नहीं जाएगा। मैं जानता हूं कि अब तुम किसी भी हालत में दिल्ली नहीं छोड़ना चाहोगी। पर मेरे लिए यह सम्भव नहीं है कि मैं सिर्फ तुम्हारी खातिर वहां रह सकूं और अपने को वह सब सहने के लिए मजबूर करूं जो कि मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता। मुझे पता है कि तुम्हारे लिए कोई भी निश्चित निर्णय ले सकना सम्भव नहीं है। तुम अभी निर्णय और अनिर्णय की स्थिति में रहोगी। पर मैंने यह तय कर लिया है। मैं यहां से अपना त्यागपत्र भेज दूंगा और फिर जो कुछ सामने आएगा, उसे झेलूंगा। यह मेरा निश्चय है, इसमें कोई रद्दोबदल नहीं होगा। मैं निर्णय बदलने का आदी नहीं हूं। नहीं जानता कि तुम यहां आना चाहोगी या नहीं···फिर भी मैं यह तुम्हारी मर्जी पर छोड़ता हूं कि तुम स्वयं सोचकर निर्णय लो। मेरे बारे में ज्यादा सोचने की ज़रूरत नहीं है। अपने बारे में सोचो और जो ठीक लगे, वही करो। अपने निर्णय की सूचना दोगी, यह सहज अपेक्षा है।

"ऐसी स्थिति में जबकि तुम मां बनने वाली हो—मैं नहीं चाहता कि मैं तुम्हें किसी तरह का मानसिक कष्ट पहुंचाऊं, फिर भी जो स्थिति है उसमें कुछ सहज निर्णय लेना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि आगे बातें और भी

उलझ जाएंगी और तब कुछ भी कर सकना और अधिक दुःखद हो जाएगा। अच्छा है कि नवजात के आने से पहले ही यह सब तय हो जाए, ताकि वह शिशु हमारी बर्बर मजबूरी का शिकार न बने। अच्छा हो कि वह एक उचित वातावरण में आंखें खोले।

"सब सोचकर मुझे लिखना।"

सात दिन बाद बिल्ला का जवाब आया था कि वह मेरी बातों को समझ ही नहीं पा रही थी। आखिर ऐसा क्या था जिसमें निर्णय लेने का सवाल उठ आया था। उसने यह भी लिखा था कि बेहतर यही है कि मैं दिल्ली लौट आऊं और वहीं सब बातें करूं। ये बातें खतों में नहीं होतीं।

पर दिल्ली लौटकर जाते मुझे दहशत होती थी। लगता था कि मैं किसी पराये घर में खलनायक की तरह घुसने की कोशिश करूंगा। उन दोनों की सहज चलती जिन्दगी में एक अवरोध बनकर मैं वहां पहुंचूंगा। अपने भीतर भी मैं बुरी तरह अपमानित महसूस कर रहा था। ऐसा लगता था कि सब गलती मेरी थी और मैं भागा-भागा वहां जाकर उनका निर्णय सुनने के लिए मजबूर था।

बातें तो बहुत हैं और उनके पहलू भी बहुत हैं। सबको आज याद करना सम्भव भी नहीं रहा है। पर हुआ यह था कि मैंने बीमारी का सर्टीफिकेट भेजकर एक महीने की छुट्टी और बढ़वा ली थी और बिल्ला को लिख दिया था कि मैं दिल्ली नहीं आ रहा हूं।

बहुत सोचने के बाद मैं इसी नतीजे पर पहुंचा था कि नौकरी छोड़ना मेरे लिए घातक था। घर की जो स्थिति थी और मेरी जो हालत थी, उसमें नौकरी छोड़कर मैं भूखा मर जाता। भावुकता में यदि

ऐसा कोई निर्णय ले लेता तो भीख या उधार मांग-मांगकर जीने का रास्ता रह जाता—वह भी कितने दिन ?

बहरहाल···मैं छुट्टी बढ़ाता रहा और जब आफिस से यह नोटिस आया कि मुझे हर हालत में अब एक सप्ताह के अंदर लौट आना चाहिए, तो मैं भागकर दिल्ली पहुंचा। घर में इतने दिन चित्रा को छोड़कर छुट्टी पर पड़े रहने से तरह-तरह की बातें हुई थीं। सभी को इस बात का अहसास हो गया था कि दाल में कुछ काला है। जब मुझे और कोई जवाब नहीं सूझा था तो मैंने कह दिया था कि प्रसव का खर्चा उठाना मेरे वश में नहीं था, इसलिए मैंने उसे उसके मायके भेज दिया था। घर में इस बात से किसीको तसल्ली नहीं हुई थी, बल्कि शक और बढ़ गया था। मेरे लिए भोपाल में भी टिकना मुश्किल हो गया था।

दिल्ली पहुंचकर मैं एक मित्र के यहां ठहर गया था। उसके पास एक कमरा था, जिसका पूरा किराया दे सकना उसके लिए भारी पड़ रहा था। पहुंचने के दूसरे ही दिन चित्रा का हाल जानने के लिए मैंने सुमन्त को उसके प्रेस में फोन किया था।

उसने चित्रा को इस बार भाभी न कहकर उसका सीधे-सीधे नाम लिया था। और इस एक ही बात ने सारी स्थिति स्पष्ट कर दी थी। यह भी मालूम हो गया था कि सम्बन्धों के किस स्तर पर वे पहुंच गए हैं।

सुमन्त ने यह भी जानने की कोशिश नहीं की थी कि मैं कहां ठहरा था। सुमन्त का यह व्यवहार मुझे चाट गया था। वह आदमी, जिसने मेरी बनती दुनिया में आग लगा दी थी, एक तरह से मुझे ही दोषियों के कठघरे में खड़ा कर रहा था। उसने कुछ बताया ही नहीं था···सिर्फ मुझपर दोष लगाता रहा था कि यह कोई तरीका है···आखिर झुंझलाकर मैंने ही फोन बंद कर दिया था। बात अधूरी रह गई थी। चित्रा का कोई हाल भी मैं नहीं जान पाया था।

फोन पटक देने के बाद मैं मन ही मन पराजित महसूस करता रहा।

कहीं भीतर बहुत बुरी तरह से टूट भी गया था। लगता था कि शायद चित्रा अपने मायके चली गई होगी, क्योंकि वहां दिल्ली में प्रसव का इंतजाम कर सकना, सुमन्त के वश की बात नहीं थी।

और फिर सामाजिक कठिनाइयां भी थीं ही। गली के सभी लोग जानते थे कि चित्रा मेरी पत्नी है और इस तरह मेरा छोड़कर चले जाना उन्हें आराम से नहीं रहने देता। वहां रह सकना उनके लिए मुश्किल होता गया होगा। लेकिन चित्रा ने भी मुझे अपने बारे में कोई सूचना नहीं दी थी।

करीब चार महीने बाद रेडियो स्टेशन के पते पर मेरे सेक्शन में मेरे नाम एक पत्र आया था। वह पत्र चित्रा के पिताजी का था, जिसमें पुत्र-जन्म की सूचना थी। बस, मात्र इतना ही। इसके आगे कुछ भी नहीं था। उन्होंने मेरा हालचाल और कुशल-क्षेम भी नहीं पूछा था। सरकारी खत की तरह भाषा थी उसकी।

पुत्र-प्राप्ति। कैसी? और किसलिए? मेरे लिए वह अर्थहीन था। मन में घृणा-सी उपजती थी चित्रा के लिए। मैं अपने को पिता मान ही नहीं पाया था। लगता था कि यह मानना-भर भी उस अबोध के प्रति अपराध होगा। पर मन में कहीं उसे एक नजर देखने की ललक होती थी। यह मैं जानता था कि वह पुत्र मेरा ही है…लेकिन इसके बावजूद कुछ बनता नहीं दिखाई देता था।

कि एकाएक एक दिन आफिस पहुंचने पर किसी साथी ने सूचना दी कि किन्हीं मिस्टर सुमन्त का फोन आया था, उन्होंने कहा है कि मैं जब आऊं, उन्हें फोन कर लूं। मैंने उसी वक्त उसे फोन किया था तो उसने मुझे मिलने के लिए बुलाया था। मैं कनाट प्लेस पहुंच

कॉफी हाउस के बाहर ही वह मुझसे मिला था और हम बात करने के लिए जंतर-मंतर के मैदान में आ बैठे थे।

"आप अब क्या सोच रहे हैं ?" उसने मुझसे सीधा सवाल किया था, कुछ इस तरह कि चित्रा के साथ मैं ज्यादती कर रहा होऊं और वह उसकी ओर से मुझसे लड़ने आया हो।

"किस सम्बन्ध में ?"

"चित्रा के बारे में।"

"मुझे क्या करना है ?"

"तो और कौन करेगा ?"

"यह वह बेहतर जानती होगी। या फिर तुम जानते होगे···मुझे तो अब कुछ मालूम नहीं, और मैं मालूम भी नहीं करना चाहता। जैसा तुम लोग ठीक समझो, करो। मुझे अब क्या लेना-देना है ?"

"यह आप जैसा ज़िम्मेदार आदमी ही सोच सकता है !" उसने व्यंग्य किया था। तब मैं अपने को रोक नहीं पाया था, और बरस पड़ा था, "देखो सुमंत, मुझे नसीहत देने की कोशिश मत करो, और फिर तुम ! तुम किस मुंह से यह सब कह रहे हो ? शरम आनी चाहिए तुम्हें। मुझे उस हद तक मत ले जाओ, जहां मैं फट पड़ूं···नहीं तो अच्छा नहीं होगा।"

"अच्छा और बुरा होने की मैं चिंता नहीं करता। मैं किसी ऊंच-नीच से नहीं डरता···"

"तुम्हें शरम आनी चाहिए थी यह सब करते हुए···" मैं उसकी बात बीच में काटकर उबल पड़ा था, "तुम मेरे भाई थे···अगर चित्रा में कोई कमज़ोरी पैदा हो ही गई थी तो तुम्हें उसका नाजायज़ फायदा नहीं उठाना चाहिए था। तुमने मेरा विश्वास तोड़ा है···मैंने कभी यह नहीं सोचा था कि तुम मेरे लिए आस्तीन के सांप साबित होगे।"

"मैंने यह सब बकवास करने के लिए आपको यहां नहीं बुलाया है···

चित्रा दिल्ली आना चाहती है, और मैं चाहता हूं कि उसके आने से पहले बातें साफ हो जाएं। मैं नही चाहता कि किसीके मन में कोई फांस रहे।"

यह सब सुनकर मैं तिलमिला उठा था। पर अपने पर संयम रखते हुए मैंने कहा था, "यह तो वही तय करेगी।"

"पर आपका रवैया क्या होगा ?"

"मेरा रवैया क्या होना है—जो है, वह देख ही रहे हो···मुझे उससे अब कुछ लेना-देना नही है। हां, इतना जरूर है कि मैं एक बार उससे मिलूंगा और उसी से बातें करूंगा। उसमें किसीका दखल मुझे मंजूर नही होगा।"

"और अगर वह इसे मंजूर न करे !"

"तो तुम कौन हो कहने वाले !" मैंने बहुत गुस्से में कहा था, तो सुमंत सहम गया था। काफी देर तक हम दोनो के बीच मनहूस खामोशी छाई रही थी।

"तो यही बेहतर है कि आप चित्रा से मिल आइए।"

"मुझे जो करना होगा, वह मैं करूंगा। तुम्हारी राय से मुझे कुछ नहीं करना है, समझे !"

"तो ठीक है।" उसने कहा था और उठकर चल दिया था। उस वक्त मुझे चित्रा पर गुस्सा आया था।—यह सिर्फ उसीके कारण था कि सुमंत मुझे यों अपमानित करके चला गया था।

अपमान की धधकती हुई आग में मैं बहुत दिनों तक झुलसता रहा।

रात-दिन सिवा जलने के और था ही क्या मेरे पास ? हारा और पिटा हुआ मैं अपने घावों को ही चाट रहा था और कोई रास्ता सुझाई नहीं पड़ रहा था। एक दिन बेहद कमज़ोर क्षणों में मैंने चित्रा को लिखा था :

"जो कुछ भी हुआ है, उसे भूल जाओ और बच्चे को लेकर यहां चली आओ। मेरे दिल में आज कुछ भी नहीं है। अपमान और दारुण दुःख की जिस आग में मैं जलता रहा हूं, उसने अब कुछ भी शेष नहीं छोड़ा है। अब न मेरे मन में घृणा है और न प्रतिशोध। कुछ भी नहीं है, चित्रा।

"शायद हम फिर से अपनी ज़िन्दगी शुरू कर सकें। नही जानता, इस बीच तुमने क्या-क्या सोचा है। पर मैं बहुत साफ मन से इतना ही कह सकता हूं कि तुम्हारे चले आने से सब ठीक हो जाएगा। मेरे मन में अब कहीं भी किसी तरह की कुण्ठा नहीं है। शायद इसलिए भी कि मैं उस अबोध को सिवा प्यार के और कुछ नहीं कर सकता। तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा मैं निरन्तर करूंगा।"

यह पत्र पोस्ट कर देने के बाद कुछ पश्चात्ताप भी हुआ, यही सोच कर कि जब चित्रा ने बच्चे के जन्म पर बुलाना भी उचित नहीं समझा और उसके घर वालों ने भी सिवा सूचना देने के और कुछ नहीं लिखा, तो मैं ही इतना कमज़ोर क्यों हो गया ? फिर लगा कि कमज़ोरी ही सही, अगर यह बिगड़ी हुई ज़िन्दगी सुधर जाए तो बुरा क्या है ? पर मन कुछ इतना चुप हो गया था कि चित्रा के पत्र की प्रतीक्षा भी सचमुच नहीं रही थी।

कुछ दिनों बाद उसका तार मिला कि वह आ रही है। मैं स्टेशन पर उसे लेने गया, शक था कि शायद सुमन भी पहुंचा हो, पर ऐसा कुछ भी नहीं था। यह मुझे बहुत अच्छा लगा था। चित्रा ने समझदारी का काम किया था और इससे उसके इरादों का भी पता चल गया था।

बच्चे को जब मैंने देखा तो सारा मलाल घुल गया। बहुत ही सुन्दर था—बहुत प्यारा। चित्रा ने उसे बहुत सवार कर रखा था। "देख लो अपनी अमानत।" उसने बच्चे की तरफ इशारा करते हुए कहा था, "फिर मत कहना कि मैंने अपना फर्ज पूरा नहीं किया···" सचमुच बच्चा खूब तन्दुरुस्त और हंसमुख था। पहली नजर में चित्रा भी खुद॰ बहुत निष्कलुष लगी थी। उसका शरीर पहले से कुछ निखरा और दुर्बल था···कुछ अजीब तरह का निखार था उसमें—बच्चे के जन्म के बाद उसमें वह उद्दाम खिचाव नहीं रह गया था, उसकी जगह अद्भुत-सा सौन्दर्य फूटा था उसमें, शांत, मासूम और पावन-सा। उसके अंगों में नए घुमाव आ गए थे—नए सौन्दर्य-कोण फट आए थे। अजीब-सी गरिमा व्याप्त थी पूरे व्यक्तित्व में।

उस गरिमा ने मुझे अभिभूत कर लिया था। उसे लेकर मैं अपने दोस्त के कमरे पर हो आया था, जहां चाय और अण्डा बना सकने के अलावा दूध उबाल लेने-भर का इन्तजाम था। कोई और घरेलू सामान नहीं था।

मेरे मित्र ने भी चित्रा का खुले दिल से स्वागत किया था और बच्चे को देखकर वह भी बहुत खुश हुआ था। कमरे पर पहुंचते ही चित्रा ने चाय बनाई थी। चाय पीकर मेरा दोस्त चला गया था, हमें बातचीत करने की सुविधा देने के खयाल से। मैं उस वक्त पश्चाताप से भरा बैठा था कि धीरे से चित्रा ने ही कहा था, "तुम तो नाराज होकर भोपाल जा बैठे, यह भी नहीं सोचा कि मेरा क्या होगा?···क्यों?···घर पर क्या-क्या नहीं सुनना पड़ा मुझे···लेकिन इस गुड्डू की खातिर सब बरदाश्त

कर लिया। अगर यह पेट में न होता तो मैं सचमुच कुछ कर लेती अपने लिए…" कहते हुए वह शून्य की ओर देख रही थी। मेरी सारी ममता उमड़ आई थी। अपने को संयत रखते हुए मैं बोला था, "चित्रा, उन बातों को मत दोहराओ। जो कुछ हुआ, वह हो गया…दोनों ने ही बचपना किया…"

"अब तुम्हारे मन में तो कोई बात नहीं है ?"

"नहीं।"

"सचमुच।"

"हां।"

"फिर इस तरह मत सोचना कभी।"

हम ये बातें कर रहे थे और उधर चटाई पर पड़ा गुड्डू मुस्करा रहा था—अपने में मस्त। उसने गद्दी गंदी कर ली थी। चित्रा उसके कपड़े बदलने के लिए मुड़ी थी तो एकाएक न जाने कैसी झलक उसमें से फूटी थी…

वह झलक…और मेरा मन खिन्न हो गया था। वह कपड़े बदल रही थी और मैं बहुत गौर से उसे देख रहा था। रह-रहकर उसमें से कुछ आकार उभरते थे, जो अजीब-सा भ्रम पैदा करते थे। मुझे लगा कि चित्रा को अच्छी तरह पहचानने के लिए फिर एक बार बहुत निश्चितता से देखना होगा…उसके अंग-प्रत्यंग को अपनी स्मृति में बसाने के लिए मुझे एक बार फिर पहचान करनी होगी…वही आत्मीय पहचान…जिसकी मुझे हमेशा तलाश थी।

और यह खोज बराबर जारी रही। मैंने उसे दुबारा पहचानने की कोशिश की—तन से, मन से। इस बार मैं उसे सम्पूर्णता में जान लेना

चाहता था।

पर क्या कहीं···

यह पहचान मुझे और भी सता रही थी। मैंने उसके शरीर के एक एक भाग को फिर उसी सम्मोहन से देखा था, उसकी आवाज़ में कभी सुनी हुई अपनत्व की झनक को अनुभव करना चाहा था···और मुझे लगा था कि वह छाया हमारे बीच से गई नहीं है। उस छाया ने चित्रा के पूरे शरीर और व्यक्तित्व को एक संस्कार दे दिया है।

मुझे याद है—एक बार वहीं कमरे पर बैठे-बैठे मैंने चित्रा से कहा था, "चित्रा···यह जो तुम्हारे बायें गाल के ऊपर तिल है···यह बहुत चमकता है।" सुमन्त के बैठे होने के कारण मैं यह नहीं कह पाया था कि यह तिल मुझे बहुत अच्छा लगता है···या मुझे प्यार करने के लिए विवश करता है। चित्रा मेरी बात का अर्थ समझकर लजा-सी गई थी। तभी सुमन्त ने कहा था, "यह ज़रा-सा और नीचे होता तो···" कहते-कहते वह सकुचा गया था और मैं मन में कुण्ठित हो गया था।

और इतने अरसे बाद जब उसी तिल को मैंने फिर देखा था, तो लगा था कि वह सचमुच नीचे खिसक आया है। वहां, जहां वह सुमन्त को अच्छा लगता।

चित्रा के लहजे में भी कुछ बदलाव था···जब वह बोलती थी तो जैसे कभी-कभी उसकी आवाज़ में प्रूफ के लिए शुद्ध किए जाते शब्दों की झकार होती, जो उस छाया की आवाज़ से मिली-जुली लगती थी। उस के हंसने में एक तीसरी ध्वनि फूटती थी।

और वह तीसरा आदमी दिन-ब-दिन हमारी ज़िन्दगी में धंसता चला आ रहा था। अपनी अनुपस्थिति से शायद और भी ज़्यादा। काम करते-करते एकाएक चित्रा बीच में जैसे बात कर उठती थी, वह भी उसी छाया जैसा था।

यहां तक कि मुझे उसके चेहरे में भी उस छाया का हल्का-सा रूपा-

भास दिखाई देता था। पहले चित्रा के नक्श बिल्कुल अपने थे, पर अब उनमें अंतर आ गया था। ओंठों के आसपास और नाकवाला हिस्सा बिलकुल उस छाया के सांचे में ढला हुआ लगता था।

...गहन और प्रगाढ़ शारीरिक सम्बन्धों की अनवरत क्रिया के फल-स्वरूप आत्मिक और शारीरिक रूप से लिप्त दोनों व्यक्तियों के रूपाकारों में शायद यह साम्य उभरने लगता है—बहुत धीरे-धीरे...यह शायद एक प्रक्रिया है जो अपने-आप घटित होती है...

शायद इसीलिए कुछ बरसों के बाद कुछ जोड़े अपनी शक्लों में पति-पत्नी से अधिक भाई-बहन से लगने लगते हैं।

चित्रा के पूरे व्यक्तित्व से हमेशा कुछ-कुछ वैसे ही छायाभास-से फूटते नज़र आते थे...और मैं गुमसुम हो जाता था। मेरा सारा उत्साह उछाह ठण्डा पड़ जाता था और मेरे भीतर सर्द हवाएं सिसकारियां भरने लगती थीं।

बेहद दुःखद स्थिति थी यह। यह न बर्दाश्त होती थी, न अस्वीकार की जा सकती थी। लगता था, जैसे चित्रा के माध्यम से कोई और बराबर एक आक्रामक की तरह मुझ पर हावी रहता है...हर वक्त वह मुझे ललकारता है...खिजाता और परेशान करता है।

और उस छाया के इस मौन, पर बेहद भयंकर आक्रमण को मैं झेलता था...उससे लड़ता था, क्षत-विक्षत होता था...हज़ारों घाव सहता था और अंततः उसे अपनी उद्दाम शक्तियों से जीतकर कुछ क्षणों बाद फिर पराजित-सा लेट जाता था। यह एक अनवरत युद्ध था...जो मैं लड़ रहा था। चौबीस घंटों के बीच कई बार वह छाया मुझे ललकारती थी और मैं हमेशा उससे गुंथ जाता था।

रातों में...जब मैं चित्रा को अपनी बांहों में लेता तो एक अजनबी गंध फूटती थी। वह छाया मंडराती हुई कहीं से आती थी और मुझसे पहले उसकी बांहों को पकड़ लेती थी...जब मैं उसकी बांहों पर हाथ

रखता तो वहां दो हाथ पहले से मौजूद होते थे। वह छाया मुझे चित्रा के पास पहुंचने से रोकती थी···चित्रा की आंखों में जब मैं झांकता था तो वहां चार आंखें झांकती होती थीं···चार बांहें उसे कस रही होती थीं, चार ओंठ उसे प्यार कर रहे होते थे···

जब भी मैं आफिस से घर आता, दरवाजे के पास रुकता और दस्तक देता तो लगता कि वह छाया मुझसे पहले पहुंच चुकी है, और हमने दो दस्तकें दी हैं···

वह छाया आगे-आगे चलती थी और मैं सिर्फ उसका पीछा करता था। जो कुछ वह छाया करती है, वही मैं करता जाता था—जैसे युद्ध में होता है···

वह मुझसे पहले घर मे दाखिल होती थी···मुझसे पहले वह चित्रा से बातें कर लेती थी। उसकी चितवनों, मुस्कुराहटों का अछूतापन सोख लेती थी···जो कुछ मैं करना चाहता उसे वह छाया पहले ही कर लेती थी।

इस दारुण स्थिति में···इस अनवरत युद्ध की स्थिति में मेरा व्यक्तित्व सिमटता जा रहा था···मुझमें एक मौन ठण्डापन भरता जा रहा था।

कभी-कभी तो यह भ्रम भी होने लगता था कि वह छाया मुझपर ही हावी हो गई है और मैं खुद उसके अलावा और कुछ नहीं रह गया हूं···। कभी जब चित्रा अपनी आखो में प्यार भरकर मुझे देखती तो लगता कि वह मुझे नहीं, उस छाया को देख रही है जो मुझपर हावी हो गई है और उसे ही प्यार कर रही है, *या झगड़ रही है, या मनुहार कर रही है।*

ऐसे क्षणों में मैं पगला उठता था। तब एक ही सहारा रह जाता था—गुड्डू। उसके पास पहुंचते ही वह सब मिट जाता था, लगता था उसे चाहने से किसीको ईर्ष्या नहीं होती थी। मेरे और गुड्डू के बीच कोई नही था। उसकी आखों मे मैं एकांतिक रूप से झाक सकता था।

वह छाया जैसे गुड्डू से घवराती थी। गुड्डू एक स्थाई शह था और जव-जव वह छाया मुझपर आक्रमण करती मैं गुड्डू की पनाह में चला जाता या उसे हथियार वना लेता और अपना युद्ध जीत लेता था।

लेकिन यह युद्ध इतना एकांगी नहीं था। यह घृणा, ईर्ष्या, विद्वेष, और हिकारत का युद्ध भी था, जिसके लिए हर क्षण तैयार रहना पड़ता था। कभी चित्रा हाथ-मुंह धोकर आती और अपना जूड़ा खोलकर फिर वांधती तो वह छाया उससे लगकर खड़ी हो जाती! चित्रा अनमनी-सी वैठी होती तो आकर उसे गुदगुदा देती···जो कुछ मैं सोचता, वही वह मुझसे पहले कर देती।

और इस तरह मैं एक नितांत द्वितीय के रूप में रह गया था।

उन दिनों चित्रा में ज्वार उठा करते थे—वह हंसती तो खूव हंसती। और मुझे लगता कि इस हंसने में भी उसका हिस्सा है। वह नहाती तो लगता कि वड़ी-वड़ी देर तक नहाती है, जैसे हम दोनों के लिए साथ-साथ देर तक नहाती है। कभी जव वह अपनत्व की वात करती तो लगता कि उसमें वह क्वांरापन नहीं है जो सहज ही वांध लेता है—वह वात शायद पहले कही जा चुकी है और उसका सत्य निचुड़ चुका है, अव वह मात्र दोहराई जा रही है।

लगता था कि एक पुराने मकान में मैं वसा दिया गया हूं और उसमें मृत्युपर्यन्त जीना ही मेरी नियति है।

यह मानसिक स्थिति मेरे लिए असह्य होती जा रही थी। हर वक्त में सतर्क रहता था, हर वक्त मैं अपने से लड़ता रहता था, फिर भी मैंने चित्रा को इन वातों का अहसास नहीं होने दिया। शायद यह मेरा ख्याल भर है, क्योंकि थोड़े दिनों वाद चित्रा भी कुछ घुटी-घुटी-सी रहने लगी थी। ज़िन्दगी के नये अर्थों तक पहुंचे विना ही हम अपनी ज़िन्दगी की मौजूदा विभीषिका में लिपट गए थे।

बहुत दिनों बाद सुमत का फोन आया था और उसने कहा था, कि मैं अपना सामान वगैरह ले जाऊं तो अच्छा है, क्योंकि वह कमरा बदल रहा था। इससे पहले भी मैंने चित्रा से एक बार सामान उठा लाने के लिए पूछा था, तो उसने इतना ही कहा था, "अब वहा जाने की कोई जरूरत नहीं। सामान ही कितना है!" जाना तो मैं भी नहीं चाहता था, पर दोस्त के यहा रोज बर्तनों की तकलीफ होती थी और इतना पैसा किसी महीने नहीं बचता था कि कुछ बर्तन वगैरह ले आऊं।

सुमत के कहने के बावजूद मैं अपना सामान लेने नहीं गया था तो कुछ दिनों बाद वह खुद ही एक स्कूटर मे दो बण्डल रखे हुए हमारे यहा आया था। कुछ ऐसे, जैसे कि पहले कुछ हुआ ही न हो। बहुत प्रकृतिस्थ होकर वह बातें करता रहा था और जब बहुत स्नेह से गुड्डू की तरफ बढ़ा था तो मैं भीतर ही भीतर सहम-सा गया था। अब क्या होगा?···

सुमत बड़े प्यार से गुड्डू को खिलाता रहा था। उसके लिए वह खिलौने भी लाया था। वह शायद हम लोगों से फिर अपने सामान्य सम्बन्ध स्थापित कर लेना चाहता था। शायद वह अपनी ग्लानि की आग को सह नहीं पाया था।

मेरा मन भी कुछ-कुछ उमड आया था। एक क्षण के लिए गुजरा हुआ सब मुझे अपनी खामखयालो-सा लगने लगा था। हम फिर बैठे थे और कहीं कुछ भी नहीं था। कोई खराश तक नहीं थी। चित्रा ने चाय बनाई थी और हम सबने कुछ-कुछ सहमे हुए एक बार फिर चाय पी थी। न जाने क्यों, चाय के वक्त ऐसा हुआ था कि बातों का दौर थम गया था। चाय के प्याले में हम सभी अपनी बीती हुई सूरतें देखने लगे थे और चुप हो गए थे।

उस दिन जरा-सी देर की टेढ़ी खामोशी से बावजूद हम तीनों ही शायद एक-दूसरे को माफ कर रहे थे—मन ही मन, और जैसे तीनों ही अपनी-अपनी जगह यह सोच रहे थे कि हमने अलग-अलग कितना तूल दे दिया था बातों को। अगर हम पहले ही साथ-बैठ गए होते तो यह सब क्यों होता! दरारें क्यों पड़तीं? दिल इतने क्यों फटते? कोई भी एक दूसरे को ज़िम्मेदार ठहराने के मूड में नहीं था, हर एक स्वयं को ही दोषी पा रहा था। दोषी होने का यह भाव हम तीनों के चेहरों पर लिखा हुआ था। हरएक स्वयं में दोषी होने की भावना से दूसरे को कनखियों से देख रहा था और धीरे-धीरे धुंध और धुएं से छाया हुआ आसमान साफ हो रहा था।

वह क्षण बहुत बड़े सन्तोष का क्षण था। हम कट-फट गए थे, जुड़ रहे थे। हमारे टूटे-फूटे व्यक्तित्व-जैसे फिर आकार ग्रहण कर रहे थे।

और इतना हुआ कि हमारे-बीच का मलाल धुल-सा गया। आना-जाना, मिलना-जुलना तो शुरू नहीं हुआ पर बीच में गहरी फासें नहीं रह गईं।

पर ज़िन्दगी का वही ढर्रा था। वही मार थी वक्त की। दिन-ब-दिन जीना दूभर होता जा रहा था। ज़रा-ज़रा-सी चीज़ की किल्लत थी। मेरे दोस्त का तबादला हो गया था, इसलिए कमरे का किराया भी पूरा पड़ने लगा था और गुड्डू के खर्चे भी बढ़ते जा रहे थे। आमदनी वही थी, बढ़ती हुई महगाई के कारण लगता था कि हर महीने तनख्वाह कम होती जा रही है। बड़ी खींच-तान रहती।

पारिवारिक ज़िन्दगी मे भी एक ढर्रा बन गया था—उस एकरसता में कभी-कभी मन बहुत भटकता था और बीते हुए की कसक होने लगती थी। बिलकुल तो कुछ भी नही बीतता। सब जीवित रहता है—भूत और भविष्य। केवल वर्तमान ही ऐसा है जिसका कोई मसरफ नही दिखाई देता। वह शायद होता भी नही। हर व्यक्ति शायद अपने बीते तथा बीतते हुए मे कल के लिए जीवित रहता है। रेडियो मे काम करते करते मैं कुछ ऐसा बन गया था कि कहीं और फिट ही नहीं हो सकता था। अगर मैं रेडियो की नौकरी छोड़कर निकलता भी तो मेरे लिए कही कुछ भी नही था। मुझे कोई एक कौडी को नही पूछता। यह नौकरी ही ऐसी है, जो आदमी को बेकार कर देती है। वह किसी लायक नही रह जाता। और जगहों का अनुभव ज़िन्दगी में बहुत काम देता है, पर यहा का अनुभव और कामो के लिए बेकार कर देता है।

यह कुछ-कुछ गलत राजनीतिक सस्था जैसी ही संस्था है, जिसमें नीचे अटके रह जाने का मतलब होता है—अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को तोड-फोड़ लेना, और अपने को व्यर्थ महसूस करते हुए भी वही चिपके रहना; क्योंकि और कोई गति नही है। व्यक्ति की गरिमा, उसके रचना-त्मक अह और प्रयत्नशीलता को जैसे गलत राजनीतिक पार्टियों को

प्रतिक्रियावादी नीति कुचलती है, वैसे ही यहां भी आदमी कुचला जाता है। धीरे-धीरे वह एक चाबी-भरा बबुआ रह जाता है, जिसमें अपना दिमाग और दिल नहीं होता—सिर्फ होती है आवाज़। आवाज़! सिर्फ आवाज़! रेडियो के किसी आदमी को सामने खड़ा कर लीजिए, वह सिर्फ बजने लगेगा। और मैं भी लगातार बजता जा रहा था।

चित्रा ने कहा भी था कि वह कहीं छोटा-मोटा काम कर ले, पर वह सम्भव नहीं हुआ था। अभावों के बीच बेकारी झेलना और भी दुःखदाई होता है—चित्रा भी भीतर ही भीतर जैसे मरती जा रही थी। काफी दिनों तक उसने अपने भीतर की प्राणशक्ति को चलाया और उसके बल पर मुझे तथा स्वयं को अधिक से अधिक जीवित रख सकने की कोशिश की, पर अब वह भी टूट रही थी। उसकी आंखों की बची हुई चमक बुझती जा रही थी···अंगों की आभा मिटती जा रही थी। लगता था, कोई घुन उसे भीतर ही भीतर खा रहा था और मेरे पास ऐसा कोई करिश्मा नहीं था, जिससे मैं उसकी क्षय होती हुई ज़िन्दगी को बचा लूं।

वही कमरा···दीवारें···अलमारियां···बर्तन···और वक्त। सड़क का वही मोड़···तार के खंभे, दूध वाले की आवाज़ और थकन। जाते हुए,लौटते हुए कदमों की वही वर्षों से चली आती आहट, वही बूथ, वही माइक, वही घोषणायें, वही आवाज़···और कुछ नहीं···कुछ भी नहीं।

गुड्डू कुछ बीमार पड़ा था। पर वह बीमारी भी आदत बन गई थी। हम अभ्यस्त हो चुके थे। चित्रा फिर गर्भवती थी—पहले से और भी ज़्यादा श्लथ और थकी हुई।

दोपहर में गुड्डू की हालत ज़्यादा बिगड़ी थी तो वह डाक्टर के पास गई थी और डाक्टर ने बताया था, "यह सिर्फ सर्दी या जुकाम नहीं

लगता—इसकी आवाज रुकती जा रही है। मुझे डिप्थीरिया का शक है—बेहतर हो कि इसे आप फौरन 'इन्फेक्शस डिजीजेज हास्पिटल' में ले जाएं।"

आसपास घरों के बाबू लोग भी नही थे। उसने मुझे फोन किया था, पर मैं मिला नही था, तो बेबसी में उसने सुमन्त को फौरन बुलाया था और वह गुड्डू को लेकर किंग्सवे कैंम्प गया था। वहां जब डाक्टरों ने उसे देखकर भर्ती कर देने के लिए कहा था तो उसने मुझे फोन किया था। डिप्थीरिया का केस था। मेरे तो होश ही उड़ गए थे। गिरता-पड़ता वहा पहुंचा था।

गुड्डू को अस्पताल मे भरती कराना पड़ा था और देखभाल के लिए चित्रा का रुकना जरूरी था। गुड्डू की हालत मे कोई सुधार नही हुआ था'''चित्रा की आखो मे बराबर धून-सी उड़ती दिखाई देती थी। जिन्दगी और मौत की जद्दोजहद के बीच हम तीनों ही हाथ पर हाथ धरे बैठे थे। हम मात्र दर्शक थे।

बहुत नाजुक वक्त था। चित्रा चुपचाप बैठी-बैठी हम दोनो को देखती तो लगता कि मौत की परछाइयां उसकी आंखों में सब और गहरी हो जाती थी जब वह मेरी ओर देखती थी और जब वह सुमन्त को देखती थी, तो जैसे उसे सहारा-सा मिलता था। जिन्दगी की कुछ आस बधती थी। मिनट-मिनट पर दौड़कर सुमन्त ही डाक्टरों की राय जानकर आता था और बताता था। डाक्टर तो वहा कुछ बोलने ही नहीं थे। सुमन्त ही हरकारा बना हुआ था और विश्वास बधा रहा था, "डाक्टर ने कहा है कोई खतरे की बात अब नही रह गई'''फिर भी'''"

और मैं जड़वत् सब सुनता रहा।

चित्रा छटपटाती तो सुमन्त के पास ही जाती क्योंकि मेरी आखो में अनिश्चय के अलावा और कुछ था ही नही। दो दिन बाद जब गुड्डू की हालत सुधरी थी तो लगा था कि यह सब केवल सुमन्त के कारण ही

हुआ है। वह न होता तो कुछ भी नहीं हो पाता, सिर्फ अनिष्ट हो जाता।

आठवें दिन गुड्डू घर आ गया था। सुमन्त उसके बाद भी आता रहा था, उसका हालचाल जानने के लिए। अब मेरे पास कोई सवाल भी नहीं था कि वह क्यों आता है। गुड्डू भी उससे बहुत हिल गया था और देखते ही बांहें फैलाने लगता था। सुमन्त में ऐसा कुछ ज़रूर था जो अपनी तरफ बेतरह खींचता था।

और कहीं भीतर दफन वह छाया फिर उभरने लगी थी। क्या अब गुड्डू भी मेरा रक्षक नहीं रहा? शायद जहां सपने नहीं रह जाते, वहीं यह तीसरी छाया उभरने लगती है'''यह एक अनिवार्यता बन गई है...

दूसरे आगत बच्चे को लेकर चित्रा से मेरा कुछ मनमुटाव चल रहा था। मेरी इच्छा थी कि उसे दुनिया में न लाया जाए। मेरी हालत ऐसी नहीं थी कि मैं एक और को पाल सकूं। यह वस्तुस्थिति थी।

चित्रा कुछ भय के कारण और कुछ संस्कारों के कारण मेरी बात को स्वीकार करने में असमर्थ थी। मैं नियति पर विश्वास करके नहीं बैठना चाहता था। इतनी ताब ही मुझमें शेष नहीं रह गई थी।

दूसरे बच्चे को लेकर हमारे सम्बन्धों में भीषण तनाव चल रहा था और एक दिन अतीत का भोंड़ा मुंह उभर आया। जब चित्रा के पास कोई तर्क नहीं रह गया तो उसने कहा था, "मैं जानती हूं कि मुझे पहले जैसी हालत में छोड़कर फिर भाग जाओगे···तुम यही करोगे, तुम्हारे पास और कोई रास्ता नहीं है···"

"शायद तुम्हारे पास कोई होगा।"

"हो या न हो, पर मैं इतनी बेचारी नहीं हूं, जितना तुम समझ रहे हो।"

"चित्रा! इस तरह के खयाल रखते हुए कैसे साथ चला जा सकता है!···बच्चे का मोह किसे नहीं होता, पर कुछ सोचना चाहिए···"

"हर बच्चा दो हाथ लेकर आता है, और वे दो हाथ दस को सहारा दे सकते हैं···मेरे लिए कोई भी बच्चा कभी भी अनचाहा नहीं होगा···।" चित्रा ने यह कहा था तो मेरा पारा चढ़ गया था। यह दो हाथों वाला वही तर्क था, जो एक दिन सुमन्त ने दिया था···मैं बौखला उठा था। बिफरकर बोला था, "अगर जिन्दगी मेरे साथ जिओगी तो जिन्दगी का दर्शन भी मेरे साथ ही बनाना पड़ेगा···"

"तुम्हारे साथ कुछ बन सकता है?" उसने तसल्ली से कहा था।

"नहीं बन सकता तो मुक्त होकर बना लो।"

"और क्या करूंगी।" कहते हुए वह फूट-फूटकर रो पड़ी थी। वहां से उठकर बाहर चली गई थी।

इस झगड़े के बाद हमारे दिलों में पड़ी दरार और भी चौड़ी हो गई थी। यही अहसास हुआ था कि इतने दिन हम मात्र अपनी सुविधाओं और मजबूरियों के कारण ही फिर साथ-साथ जी लिए थे।

सुमन्त की दौड़-भाग और कोशिशों से चित्रा को एक छोटी-सी नौकरी मिल गई थी। वह एक हायर सेकेण्डरी स्कूल में किसी लीव वैकेन्सी में पढ़ाने लगी थी। इसके बारे में उसने मुझसे पूछा भी नहीं था, केवल सूचना भर दी थी। मैंने भी विरोध नहीं किया था। करता भी तो किस बिरते पर!

मेरे सामने और कोई रास्ता नहीं था, सिवा इसके कि मैं अपना तबादला कराके किसी छोटे स्टेशन पर चला जाऊं। आर्थिक और मानसिक—दोनों रूपों में तभी कुछ शान्ति मिल सकती थी, क्योंकि अब तो सुमन्त और चित्रा—दोनों मिलकर मुझपर अहसान चढ़ा रहे थे। तबादला कराने की अपनी इच्छा मैंने चित्रा के सामने प्रकट कर दी थी, इसपर वह खामोश रही थी। जब मैंने खोदकर पूछा था तो उसने कहा था, "ठीक है। जो उचित समझो सो करो।"

"तुम अपने स्कूल में अभी से कह देना।" मैंने कहा था तो वह बात को टाल गई थी—"देखा जाएगा।"

आखिर मेरा तबादला मंजूर हो गया और ज्वाइनिंग लीव भी मिल गई थी। जब यह सब हो गया तो मैंने उसी रात चित्रा को बताया था, "मैंने पटना ट्रान्सफर करा लिया है—यही सोचकर कि दिल्ली की बनिस्बत वह छोटी जगह है, वहां कुछ सांस ले सकूंगा। मुझे बीस को वहां ज्वाइन करना है।"

"तो जाओ।"

"मेरा मतलब है कि तुम सब ठीक-ठाक कर लो ···"

"ऐसे चलना कैसे हो पाएगा—पैसा हाथ में नहीं, सभी के बिल देने हैं। तुम्हें तो किसी से मतलब नहीं, बक्सा उठाकर चल दोगे। मेरा जाना इस तरह नहीं हो पाएगा।"

"तुम तो ऐसे कह रही हो, जैसे तुम्हें ही सब कुछ चुकाना है! पचास-साठ देना होगा राशन वाले का, दूध वाले का—लेकिन दोस्तों का जितना कर्जा मुझे चुकाना है वह तो मैं ही जानता हूं।"

"तो तुम ऐसे जा सकते हो—मैं नहीं जा सकती। नौकरी भी मैं छोड़ना नहीं चाहूंगी···"

"वह है ही कितने दिनों की? एक-डेढ़ महीना और रह गया होगा। उन्हें जवाब देने में कोई हर्जा नहीं है।"

"*मुझे वह जगह मिल गई है, अब नौकरी छूटने का सवाल नहीं है।* जो टीचर छुट्टी पर गई थी, उसका त्यागपत्र आ गया है। फिर प्रिंसिपल का कहना है कि डिपार्टमेंट से वे मुझे एप्रूव करा लेंगी।"

मैं जान रहा था कि यह सब पोच बहाने थे। चित्रा मेरे साथ पटना चलने को राजी नहीं थी और वह दिल्ली में ही रुकना चाहती थी। वही हुआ भी। मैं अट्ठारह तारीख को वहां से चल दिया।

गुड्डू को छोड़ते हुए बहुत तकलीफ हुई। रास्ते-भर उसकी अबोध आंखें मेरा पीछा करती रहीं···पर मैं भी लाचार था। दिल्ली के कर्जदारों से मैं परेशान आ गया था। वह हालत भी बर्दाश्त के बाहर हो

रही थी और मैं किसी तरह थोड़ा-बहुत पेट काटकर कर्ज़ा चुका देना चाहता था। दिल्ली छोड़ने से पहले मैं कितनों के सामने कितना बेइज्ज़त हुआ हूं यह मेरी आत्मा ही जानती है। कितने अपमान सहे आदमी? किस किस तरह के?

पटना आकर मुझे कुछ राहत मिली थी। ऐसी राहत जो मुझे सुलगाए रहती थी। तरह-तरह के बोझ थे दिलो-दिमाग पर।

दिल्ली से कोई सूचना नहीं मिली थी। मेरे एकाध पत्र का उत्तर आया था, फिर कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। चूंकि अकेली औरत का किसी जगह रहना एकदम नामुमकिन होता है, इसलिए चित्रा किसी होस्टल की खोज में थी, यह उसने मुझे लिखा था। प्रसव के इन्तज़ाम के सम्बन्ध में मैंने लिखा था कि मैं उसे पटना ले आऊंगा तो उसने उत्तर दिया था कि वह मायके जाना ही पसन्द करेगी। जब जाएगी तो लिखेगी।

सम्बन्ध सब बिखर चुके थे। और वह तीसरा आदमी मुझपर फिर हावी रहने लगा था।

तीन महीने बाद चित्रा का खत आया था कि उसने भाई को बुलाया है और वह मायके जा रही है। वहां से लौटकर फिर दिल्ली ही आएगी। वह चाहती थी कि मैं दिल्ली ही फिर तबादला करवा लूं।

मैंने उसे पटना बुलाया था।

न मैं दिल्ली जाने को तैयार था, न वह पटना आने को तैयार थी।

और वही हुआ जो होना था।

प्रसव के लिए भी वह मायके नहीं गई। यह शक मुझे पहले भी हुआ था कि वह नहीं जाएगी। होस्टल में उसे कमरा भी नहीं मिला।

यह भी मुझे मालूम था कि नहीं मिलेगा।

सुमत ने एक तीसरी जगह कमरा ले लिया था और वे दोनों वहीं साथ-साथ रहने लगे थे। प्रसव का सारा इन्तज़ाम सुमंत ने किया था।

मैं पूरी तरह से टूट चुका था।

और एक बार फिर घबराया हुआ मैं दिल्ली वापस आया था—छुट्टी पर। पहले जाकर प्रेस में सुमत से मिला था। उसने मिलने में कोई उत्साह नहीं दिखाया था। पता लेकर मैं उसके घर पहुंचा था तो चित्रा बाहर ही बैठी हुई मिल गई थी। मुझे देखते ही उसने सिर पर पल्ला कर लिया था—जैसे मैं एकाएक उसके लिए कोई पूज्य व्यक्ति हो गया होऊं। बच्ची वहीं खाट पर लेटी थी। और एक बार फिर मुझे चित्रा बड़ी ही निष्कलुष-सी दिखाई दी थी। उसका शरीर कुछ और निखरा हुआ था—कुछ सौन्दर्य और फूट आया था। अंगों के घुमाव कुछ और बढ़ गए थे और वह पहले से अधिक आश्वस्त लग रही थी।

ऊपर का हालचाल पूछने के बाद मैं अपने में कुंठित हो गया था और कुछ लोगों से मिलने का बहाना करके उठ के चला आया था।

रात को लौटा तो चित्रा ने बताया कि सुमत किसी काम से तीन दिनों के लिए बाहर चला गया है।

"मेरे कारण?" मैंने पूछा था।

"हो सकता है।"

और तब मेरे भीतर का हिंस्र पशु जागा था। प्रतिशोध की भावना उफनने लगी थी और मैंने चित्रा को पकड़ लिया था। मन में मात्र इतना ही था कि अब सिर्फ एक बार उसे अपनी पत्नी बनाकर ठुकराऊं और हमेशा के लिए चला जाऊं। शायद इससे मेरा आहत अहं तृप्त होता था।

मेरे भीतर आग धधक रही थी, फिर भी मैं नाटक करता हुआ बहुत धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था। और जब मैंने उसका मुंह दोनों हाथों में भरकर ऊपर उठाया था तो वह छिटककर खड़ी हो गई थी।

"यह नहीं होगा···"

"क्यों?"

"बस···नहीं होगा।" उसकी आंखों से चिनगारियां फूट रही थीं।

"और जो मेरे साथ हुआ है?"

"उसके लिए तुम खुद ज़िम्मेदार हो।"

"इसीलिए वह भाग गया है!"

"भागते तो तुम रहे हो। उन्हें विश्वास न होता तो इस तरह न चले जाते।" चित्रा की आंखों में हिकारत थी।

तभी बच्ची जाग गई थी और वह उसे उठाकर रसोई में चली गई थी। एक बार वह फिर आई थी और चटाई का टुकड़ा व गुड्डू को उठा ले गई थी और रसोई की चिटखनी बन्द करके भीतर कैद हो गई थी।

"मैं जा रहा हूं।" इतना कहकर मैं हताश-सा चला आया था। आकर वेटिंगरूम में पड़ रहा था और सुबह ही पटना के लिए चल दिया था।

सब समाप्त हो चुका था।

मेरे और किसी के बीच एक छाया थी···मेरे और हर इंसान के बीच छाया थी। मैं पटना वापस आ गया था।

मुझे तो बहुत बाद में पता चला कि फिर सुमंत लौटकर नहीं आया था। चित्रा ने कोई खबर नहीं दी। उसने कोई खत भी नहीं लिखा।

यह भी नहीं लिखा कि यह भीषण दुर्घटना कैसे और क्यों हुई।

किसी होटल के कमरे में आकर सुमन ने आत्महत्या कर ली थी। शायद किसी तीसरे आदमी के कारण···शायद वह मैं···

पुलिस ने चित्रा को कितना परेशान किया होगा, कुछ पता नहीं; क्योंकि मुझे जब यह खबर मिली थी तो दो-ढाई महीने गुजर चुके थे।

···एक बार तो लगा था कि शायद अब चित्रा मुझे याद करे। शायद उसके दिल में वही पुरानी भावनाएं फिर उभरें और वह हारी हुई आकर मेरे पास खड़ी हो जाए।···लेकिन ऐसा कुछ हुआ नहीं। और शायद अब कुछ होना भी नहीं है। हो भी क्या सकता है? अब बाकी ही क्या बचा है? बच्चे। मैं जानता हूं चित्रा उन्हें नहीं देगी।

और अब मैं चित्रा के साथ उस तरह रह भी नहीं सकता। यह मेरी मजबूरी है। मुझे उस छाया ने मजबूर कर रखा है। अब मेरी दुनिया में मैं हूं और एक वह छाया है जो मुझे अब भी चैन से नहीं बैठने देती।

···हर वक्त एक तीसरी छाया मंडराती रहती है···ऐसा लगता है कि हर 'मुझ' और हर 'चित्रा' के बीच वह छाया खड़ी है···जब भी, कोई भी, किसी भी चित्रा की आंखों में झांकने की कोशिश करता है तो लगता है कि जैसे दो नहीं, चार आंखें झांक रही हैं—चार बांहें उस चित्रा को कस रही हैं—चार होंठ उसे प्यार कर रहे हैं।

यह भी नहीं लिखा कि यह भीषण दुर्घटना कैसे और क्यों हुई ।

किसी होटल के कमरे में जाकर गुमत ने आत्महत्या कर ली थी। शायद किसी तीसरे आदमी के कारण'''शायद वह मैं'''

पुलिस ने चित्रा को कितना परेशान किया होगा, कुछ पता नहीं; क्योंकि मुझे जब यह खबर मिली थी तो दो-ढाई महीने गुजर चुके थे ।

'''एक बार तो लगा था कि शायद अब चित्रा मुझे याद करे। शायद उसके दिल में वही पुरानी भावनाएं फिर उभरें और वह हारी हुई आकर मेरे पास खड़ी हो जाए।'''लेकिन ऐसा कुछ हुआ नहीं । और शायद अब कुछ होना भी नहीं है। हो भी क्या सकता है ? अब बाकी ही क्या बचा है ? बच्चे । मैं जानता हू चित्रा उन्हें नहीं देगी ।

और अब मैं चित्रा के साथ उस तरह रह भी नहीं सकता। यह मेरी मजबूरी है। मुझे उस छाया ने मजबूर कर रखा है। अब मेरी दुनिया में मैं हूं और एक वह छाया है जो मुझे अब भी चैन से नहीं बैठने देती ।

'''हर वक्त एक तीसरी छाया मंडराती रहती है'''ऐसा लगता है कि हर 'मुझ' और हर 'चित्रा' के बीच वह छाया खड़ी है'''जब भी, कोई भी, किसी भी चित्रा की आंखों में झाकने की कोशिश करता है तो लगता है कि जैसे दो नहीं, चार आंखें झाक रही हैं—चार बाहें उस चित्रा को कस रही हैं—चार होंठ उसे प्यार कर रहे हैं।

तीसरा आदमी

'बात बिगड़ती ही चली गई। ऐसा मैंने कभी सोचा नही था। सपने में भी यह ख्याल नहीं आया था कि चित्रा मेरे साथ ऐसा करेगी। जो कुछ उसने किया, उसे, चाहते हुए भी मैं भुला नही पाया। और आज, जबकि बातें फिर बदल गई हैं'''मैं कुछ इतना मजबूर हू कि कुछ भी नहीं कर सकता। एक बार तो मन मे आया था कि लौट जाऊं और चित्रा को ले आऊं, पर ऐसा मैं कर नही पाया।

हर वक्त एक तीसरी छाया मंडराती रहती है। ऐसा लगता है कि वह मेरे और चित्रा के बीच खड़ी है'''वह छाया मुझे चित्रा के पास तक पहुंचने से रोकती है। जब मैं अपने खयालों मे ही चित्रा की आंखों में झांकने की कोशिश करता हूं, तो लगता है जैसे दो नहीं, चार आंखें उसकी आंखों में झांक रही हैं, चार बाहें उसे कस रही हैं, चार ओंठ उसे प्यार कर रहे है।

मेरे आगे-आगे एक छाया हर समय चलती है। और लगता है कि मैं उस छाया का सिर्फ पीछा करता हूं। जो वह कहती है, वही मैं करता जाता हूं। मुझसे पहले वह घर में दाखिल होती है। मुझसे पहले वह चित्रा को देखती है—जो कुछ मैं करना चाहता हूं, उससे पहले वह छाया वही सब कर लेती है।

शायद इसीलिए अब मैं कुछ नही कर पाऊगा। चाहते हुए भी नहीं कर पाऊगा। क्योंकि उस छाया से मुक्ति नही है, उससे कोई बचाव नहीं है।

चित्रा ने कोई खत भी नहीं लिखा। यह भी नहीं लिखा कि वह भीषण दुर्घटना क्यों और कैसे हुई। एक वार तो लगा था कि शायद अब चित्रा मुझे याद करे। शायद उसके दिल में वही पुरानी भावनाएं फिर उमड़ें और वह हारी हुई मेरे पास आकर खड़ी हो जाए।

लेकिन ऐसा कुछ हुआ नहीं। और शायद कुछ होना भी नहीं है। हो भी क्या सकता है? अब बाकी ही क्या बचा है? बच्चे! मैं जानता हूं कि चित्रा उन्हें नहीं देगी। तभी नहीं दिए, तो अब क्या देगी? बच्चों की ममता ज़रूर मुझे खींचती है, पर उस ममता का जो ज़रिया है, जब वही भावनाहीन हो गया है, तो अब इस इच्छा में भी कोई अर्थ नहीं दिखाई पड़ता।

और अब मैं चित्रा के साथ उस तरह रह भी नहीं सकता। यह मेरी मजबूरी है। मुझे उस छाया ने ही मजबूर कर रखा है। अब मेरी दुनिया में मैं हूं, और वह एक छाया है, जो मुझे चैन से नहीं बैठने देती।

मैंने कभी यह सोचा भी नहीं था। ज़िन्दगियां यों मोड़ ले जाएंगी और किनारे इस तरह छूट जाएंगे, यह खयाल तक दिमाग में नहीं आया था। और अब तो रास्ते बहुत बदल गए हैं—कोई एक-दूसरे को नहीं काटता—पहले यही सोचता था कि शायद वह दिन फिर आए, जब चित्रा आकर फिर मेरे रास्ते में खड़ी हो जाए—लेकिन अब यह सब होगा नहीं।

चित्रा और सुमन्त की मुलाकात पहली बार ट्रेन में हुई थी—उस समय, जब मैं विवाह करके लौट रहा था। रिश्ते में वह मेरा छोटा भाई भी होता था और बारात में जितने लड़के थे, उनमें वही सबसे बड़ा और समझदार था। मुझसे सिर्फ दो साल छोटा था सुमंत।

उस वक्त मुझे कुछ भी नहीं लगा था। कुछ खयाल करने का सवाल भी नहीं था। बल्कि मैं उलटा यही चाहता था कि पानी वगैरह के लिए पूछने-पाछने सुमंत ही जाए। चित्रा तो अकेली बैठी थी फर्स्ट क्लास

ड डिब्बे मे। बैठना मुझे भी साथ ही था, पर कुछ दोस्तों की फबतियों के कारण और कुछ बुजुर्गों के खयाल से मैं सबके साथ आकर सर्ड क्लास के डिब्बे मे ही बैठ गया था। दिन का वक्त था, और यह अच्छा भी नही लग रहा था कि मैं अपनी बीवी के पास ही बैठा रहूं। *मन में भावनाएं तो बहुत उमड रही थीं, पर अजीब-सा लिहाज* खाए जा रहा था। हमारे घरो की स्थिति भी कुछ ऐसी ही थी। काफी पढ़-लिख लेने के बावजूद अभी आख की शर्म बाकी थी, और इतना लेहाज करना जरूरी भी था।

लखनऊ स्टेशन पर चित्रा के घरवाले और सहेलियां—सभी विदाई देने आए थे और तब उस भीड़-भड़्ड़ में मैं फर्स्ट क्लास में ही घुस गया था। तभी बड़े चाचा की फबती सुनाई दी थी, 'आज-कल के लड़के तो अंग्रेज हैं अंग्रेज। यही गनीमत नही है क्या, कि हाथ मिलाकर शादी नही कर लाए'''यह सुनकर मेरा मन खराब-सा होने लगा था।

डिब्बे में चित्रा अपनी बहनों और सहेलियों से घिरी हुई थी। घर छोड़ते समय का अवसाद और थकन उसके चेहरे पर थी। उसने एक नजर मुझे कही से देखा था—और मैं उसे देखता रह गया था। भरे हुए सिंदूर की लाली उसके माथे पर झलक रही थी और बालो की कुछ शोख लटें बाहर निकल आई थीं। माथा पसीने से भीगा हुआ था और चेहरा भी पसीजा हुआ था।

मैं अपने में डूबा खड़ा था। चित्रा के घर वाले मेरे आसपास खड़े थे और बेकार की पूछताछ कर रहे थे—"शाम तक आप घर पहुंच जाएंगे ?"

"जी हां।" मैंने जवाब दे दिया था।

गाड़ी काफी देर से अटकी हुई थी। कुछ लेट भी हो रही थी। पहुंचाने आने वालों का उत्साह ठण्डा पड चुका था। गाड़ी को नौ बजे छूट जाना चाहिए था, पर उस वक्त सवा नौ हो रहा था और लोगों की भावना की गरमाहट चुक गई थी।

"अब तो गाड़ी काफी लेट हो रही है।" किसीने थकान-भरे स्वर में कहा था।

प्लेटफार्म की रौनक बिखरती जा रही थी। मैं निगाह बचा-बचाकर चित्रा को ताक रहा था और मन में कहीं यह लग रहा था कि इस तरह यहीं खड़े रहना ठीक नहीं। तभी देखा था—सुमंत दनदनाता हुआ डिब्बे में घुस गया था—"भाभी को हवा लगने दीजिए...हटिए..." उसे यह भी ख्याल नहीं था कि चित्रा की सहेलियां या बहनें इस तरह के व्यवहार से बुरा भी मान सकती हैं। तभी सुमंत ने थर्मस खोलकर पानी निकाला था और गिलास चित्रा के सामने कर दिया था, "भाभी, लीजिए पानी पीजिए।"

सुमंत की यह चुस्ती मुझे अच्छी लगी थी। मेरे घर में कोई सलीके का था भी नहीं, जो चित्रा का इतना खयाल करता। सुमंत देखने-भालने में भी अच्छा था, और मैंने देखा था कि कुछ लड़कियों की निगाहें बार-बार उसकी ओर उठ जाती थीं। जैसे कुछ मिनटों के लिए चित्रा केन्द्र-बिन्दु नहीं रह गई थी—सुमंत ही केन्द्रबिन्दु बन गया था। तभी किसी लड़की ने कुछ मज़ाक की थी और शायद सुमंत ने अपनी तेज़ी के मुताबिक उसका जवाब दिया था। वह छोटा-सा डिब्बा टूटे कांच की खनखनाती-सी हंसी से भर गया था।

सुमंत किसी लड़की को पानी पेश कर रहा था और साथ ही सब लड़कियां मज़ाक कर रही थीं।

आखिर गाड़ी चली—और सब चढ़ गए। उस भीड़-भाड़ में मैं चित्रा के डिब्बे में घुस गया। यों मेरे लिए भी वहीं रिज़र्वेशन था, पर जब बड़े चाचा की फब्ती सुनी थी, तो मन संकोच से भर गया था। पर चित्रा का आकर्षण इतना ज्यादा था कि उस लिहाज की बात को भूल ही गया।

और जब गाड़ी कुछ दूर निकल आई, तो मैंने चित्रा की तरफ

निश्चित होकर देखा था। वह सीट पर पैर रखे, घुटनों पर ठोढ़ी टिकाए मुझे देख रही थी। इतने पास से उसकी नज़र का वह पहला सम्मोहन मैं सह नहीं पाया था। आज भी अगर कुछ याद आता है तो सिर्फ दो आखें। कुछ क्षणों के लिए मैं चित्रा के पूरे शारीरिक अस्तित्व को जैसे भूल गया था। आखों के सिवा कुछ और दिखाई ही नहीं दिया था।

उन आंखों में सागर जैसी गहराई थी। फिर उसने पलकें झुका ली थीं और तब मैंने उसे एक बार अच्छी तरह देखा था—उसके महावर लगे पैरों को, पीली-पीली गुदाज़ हथेलियों को, और माथे पर पसीने से चिपके रोओं को।

"आराम से बैठ जाओ—मेरे सिवा और तो कोई नहीं है यहां•••" मैंने कहा था।

चित्रा ने एक बार फिर भर-आख मुझे निहारा था और हलकी-सी मुस्कराहट उसके ओठों पर फैल गई थी•••लेकिन एक क्षण बाद ही उसके माथे पर और पसीना छलछला आया था। कनपटी पर चिपके रेशमी रोओं पर एक बूद और ढरक आई थी। ओठ के नीचे पसीने के छोटे-छोटे मोती उभर आए थे।

मैंने बहुत प्यार से घुटनों पर कसी उसकी बाहों पर हाथ रखा था, तो जैसे जल उठा था—हथेली पसीज गई थी, जैसे भाप लग गई हो।

और चित्रा के हाथ कांपने लगे थे।

गाड़ी तेज़ रफ्तार से भागी जा रही थी।

चित्रा की बांहों में जैसे सनसनाहट-सी हो रही थी—तार के खम्भे जैसी। मैंने हाथ हटा लिया था।

सूखते गले से मैंने पूछा था, "मुझसे डर तो नहीं लगता न !"

उसने अपनी उन्हीं बड़ी-बड़ी आंखों से मुझे आश्वस्त किया था। मैंने उठकर पानी लिया था, पर खुद पीने से पहले उसकी ओर बढ़ाया था।

"आप पी लीजिए।" वह बोली थी।

तभी गाड़ी की चाल धीमी पड़ने लगी थी और मैंने खिड़कियां
ढ़ानी शुरू कर दी थीं। स्टेशन आया। गाड़ी रुकी तो देखा सुमंत के
ाथ रघुवीर था—मेरा दोस्त। आते ही बड़ी बेतकल्लुफी से रघुवीर
बोला, "भाभी जी ! आज-भर यह हम लोगों का है, फिर तो ज़िन्दगी-
भर के लिए आपका हो जाएगा—हम लोग तो अब हट ही जाएंगे—
इसलिए सिर्फ दो स्टेशनों तक की मोहलत इसे दे दीजिए—तीसरे स्टेशन
पर हम बाहिफाज़त इसे आपके सुपुर्द कर जाएंगे ?"

सुनकर चित्रा कुछ बोली नहीं। और मेरा हाथ खींचते हुए रघुवीर
मुझे घसीट ले गया, "यार, बस, चार बाज़ियां। खेल जम ही नहीं रहा
है, आ…और मैं उसके साथ थर्ड क्लास वाले डिब्बे में पहुंच गया, जहां
दोस्तों की महफिल जमी हुई थी।

आखिर न चाहते हुए भी मुझे उनके साथ बैठना पड़ा। ताश शुरू
हुए। तभी बाबूजी की नजर मुझपर पड़ी, एकदम बोले, "क्यों नरेश,
तुम यहां हो—वहां बहू के पास कौन है ?"

"अभी तो शायद कोई नहीं है…" मैंने अचकचाकर कहा था। बाबू
जी को दोस्तों के साथ इस तरह बैठकर मेरा ताश खेलना पसंद नहीं
आया था, इसीलिए वे बात को चलाते हुए बोले थे, "वहां डिब्बे में बहू
अकेली है—चार ज़ेवर भी पहने-ओढ़े है—ज़रा से में कुछ हो जाए तो
सब तमाशा धरा रह जाएगा—तुम्हें यहां बैठना ही है तो किसी और
को भेजो वहां, उसके पास।"

"सुमंत को भेज दीजिए।" मैंने जल्दबाजी में यों ही कह दिया
यह बात बाबूजी को भी जंच गई और उन्होंने तुरंत सुमंत को पक
"जा बेटा, अपनी भाभी के पास बैठ जाकर…"उन्होंने बड़े संतोष
कहा, फिर मुझसे बोले, "इसे अपना टिकट दे दो ताकि फर्स्ट क
में कोई तंग न करे…"

मैंने टिकट सुमंत को दे दिया। और तब बाबूजी ने एक गत्रे

मुस्कराहट सब बारातियों की ओर फेंकी। कुछ यह ज़ाहिर करने के लिए कि इस ज़माने में भी मेरे जैसा लायक लड़का हो सकता है!—इतना ही नहीं, उन्होंने बहाने से सब लोगों के सामने यह बात किसी न किसी तरह प्रकट भी कर दी कि मैं अपनी पत्नी के पास न बैठकर, उन लोगों के *साथ बैठा हुआ हूं।*

लेकिन मेरा मन नहीं लग रहा था। हर बार बाज़ी हारता जा रहा रहा था। चित्रा की आंखें मेरे अंदर खुबी हुई थीं। मैंने इतनी अच्छी पत्नी की कल्पना नहीं की थी—यह लगा ही नहीं था कि घरवाले इतनी सुन्दर लड़की चुन लेंगे। बाबूजी और मां के खयालात मैं जानता था—और चूंकि मेरी बहनें बहुत सुन्दर नहीं थीं, इसलिए वे कभी ज्यादा रूपवती बहू की बात भी नहीं करते थे। उनके दिमागों पर हर समय यह बात हावी रहती थी कि उन्हें अपनी लड़कियों की शादी भी करनी है, इसलिए मेरी शादी की बात भी कहीं चलती तो मां धीरे से यही कहती, "*देखिए शादी तो नरेश की बिरादरी में ही करनी है।* और हमें औसत लड़की चाहिए—लगड़ी-लूली, कानी-बहरी न हो, बस...चेहरा-मोहरा अच्छा हो, देखने में...रंग उन्नीस भी हो तो कोई बात नहीं...हमें तो ऐसी लड़की चाहिए जो हमारे घर में निभ जाए...और लड़के वालों की तरह हमारे यहां नखरे नहीं है कि हमें इन्दर की परी चाहिए..." जब भी मां यह कहती थी तो मेरा दिल बैठ जाता था कि पता नहीं किस जगह गठबंधन हो जाए—

परिवार भी मेरा ऐसा था कि उसमें रहते हुए मैंने कभी अपने अलग घर की कल्पना नहीं की थी, इसलिए अपनी अलग पसंद की बात भी दिल में नहीं आई थी। तब तक घर में जो कुछ होता रहा था, वह सबको

द से ही होता था—कोई भी चीज़ आती थी तो 'घर' के लिए ी थी, किसी एक के नाम लिखकर नहीं। बाबूजी ने जिस वक्त इकिल खरीदी थी, तो वह भी सिर्फ उनके लिए या उनके नाम लिख र नहीं आई थी, वह 'घर' के लिए आई थी। उसपर जो 'कैरियर' गाया गया था, वह घर का सामान वगैरह लाने के लिए ही लगाया गया था और आगे डंडे पर छोटी सीट भी सबसे छोटे भाई के बैठने के लिए फिट कराई गई थी। कोई बक्सा भी खरीदा जाता, तो उसके कई काम पहले से तय हो जाते। बाबूजी जब एक बक्सा खरीदकर लाए थे तो बोले थे, "नरेश की मां, यह बक्सा फिलहाल तुम्हारे काम आ जाएगा—सब बच्चों के कपड़े और तुम्हारे भी इसमें आ जाएंगे, और जब तुम शादी से लौटोगी तो नरेश को इम्तहान देने बाहर जाना है, तब इसमें उसके कपड़े और किताबें भी आ जाएंगी और जब तक वह इम्तहान देकर वापस आएगा, तब तक सर्दियां खत्म हो जाएंगी, तो घर-भर के ऊनी कपड़े रखने के काम आ जाएगा यह बक्सा।" और सबने उस बहुधंधी बक्से को बहुत पसन्द किया था।

उस बक्से में बाईं ओर एक छोटा-सा खाना भी बना था, जिसमें छोटा-सा ताला भी लग सकता था। उसे दिखाते हुए बाबूजी ने कैफियत बयान की थी, "इस खाने में तुम्हारे जेवर वगैरह बंद किए जा सकते हैं और जब नरेश ले जाएगा तो उसकी कलमें, घड़ी वगैरह...छोटी-मोटी चीज़ों के काम आ जाएगा।"

घर में जूते तो सबके अलग-अलग आते थे, पर चप्पलें कुछ इस तरह खरीदी जाती थीं कि जिनसे एक-दूसरे का काम भी निकल जाए। बाबूजी की चप्पल मेरे काम आ जाती थी और बहनों की चप्पलें ज़रूर के वक्त मां की इज़्ज़त रख लेती थीं। बहनों के पास साड़ियां भी ऐ ही थीं जो बदल-बदलकर एक-दूसरे के काम आती रहती थीं।

जो कुछ भी हमारे यहां था, वह घर का था, इसीलिए जब भी

शादी की बात चलती तो घर में बहू लाने की बात ही होती, नरेश की बीवी नहीं···नरेश की शादी तो जैसे 'घर में बहू लाने' का एक माध्यम भर थी।

यही था मेरे घर का रवैया और तौर-तरीका—सबके अपने व्यक्तित्व थे, पर वे सभी व्यक्तित्व एक 'घर' के लिए समर्पित थे। मुझे कहीं अच्छी नौकरी मिलने की बात उठती, तो उसे भी इसी रूप में लिया जाता कि घर सुधर जाएगा, या घर का नाम होगा···

और यह सब मेरे लिए सचमुच बड़े संतोष का विषय था। हम सब मिलकर एक 'घर' बनाए हुए थे, या एक घर था जो हम सबको बड़ी गहराई से बांधे हुए था। जो कुछ होता था, वह इसी घर के लिए। और इतने अच्छे घर में हम सभी ने अपनी-अपनी रुचियों और व्यक्तिगत सुविधाओं को कुछ न कुछ खो डाला था। ऐसे में अपनी पत्नी की खोज करना या उस खोज में जरूरत से ज्यादा टांग अड़ाना घर के अदृश्य नैतिक नियमों के खिलाफ ही था।

···और रेल के डिब्बे में जो गर्व बाबू जी के चेहरे पर उभरा था वह भी ऐसा ही था—वह मेरी पत्नी तो थी ही, पर उससे ज्यादा वह एक घर की बहू थी, जो जा रही थी।

रास्ते-भर मेरा मन चित्रा के लिए भटकता रहा। स्टेशनों पर उतरकर मैं किसी न किसी बहाने से उसे देख आता। सुमंत जिस तत्परता से उसकी देखभाल कर रहा था और जितना खुल गया था, वह अच्छा ही था। मेरे सामने तो चित्रा दबी-सकुची-सी बैठी रही थी, पर अब वह आराम से बैठी हुई थी। उसकी आंखों का हल्का-सा अजनबीपन जैसे दूर हो गया था और अपने घर की यादों से जैसे वह धीरे-धीरे कट रही थी।

द उसने कुछ नाश्ता भी कर लिया था। एक प्लेट और पानी के दो लास नीचे रखे हुए थे। मैं खुद ही उसे नाश्ता कराना चाहता था, पर भी रघुवीर मुझे पकड़ ले गया था। सुमंत ने खयाल करके उसे नाश्ता रा दिया था, यह मुझे बहुत भला-सा लगा था, क्योंकि घर पहुंचते ही जिस भीड़-भाड़ में चित्रा घिर जाने वाली थी, उसमें शायद उसे पानी मांगते भी संकोच होता।

चित्रा की आंखों ने एक बार फिर मुझे उसी तरह देखा था और मैं भीतर ही भीतर छटपटा उठा था। गाड़ी पांच-सात मिनट के लिए ही किसी स्टेशन पर रुकी थी। मैंने सिर्फ उससे इतना ही पूछा था, "कोई तकलीफ तो नहीं।" उसने सिर्फ सिर हिलाकर जवाब दे दिया था और तब मैंने मजाक में सुमंत से पूछा था, "अरे, ये तुमसे भी बात करती हैं या नहीं ?"

"अपने से तो सारी बातें हो रही हैं।" सुमंत बोला था, "मैं तो भाभी से यह टिप्पस भिड़ा रहा हूं कि इनकी जैसी कोई और लड़की इनके यहां हो तो मैं भी शादी-वादी कर डालूं—" सुमंत ने यह कहा था तो चित्रा का चेहरा शर्म से लाल हो उठा था। वह पहले की तरह ही धीरे से मुस्कराई थी।

"अरे भई, कोई हो तो बताओ।" मैंने उसी रौ में चित्रा से कहा था, "अपने घर की सब लड़कियों की फेहरिस्त दाखिल करो, मेरे बहुत से भाई हैं—सब लड़कियों का उद्धार हो जाएगा।"

इस पर सुमंत ज़ोर से हंसा था, पर चित्रा खामोश ही रही थी। सुमंत के होने से चित्रा पर अच्छा प्रभाव पड़ रहा था, मेरे घर-परिवार के सम्बन्ध में उसके विचार अच्छे ही बने होंगे, यह मुझे लगा था।

घर पर चित्रा का खूब स्वागत हुआ। सभी ने उसे पसन्द किया और उसके रूप को सराहा था। बहनों ने अपनी भाभी को बेहद पसन्द किया था। मुझे तो जैसे सब कुछ मिल गया था। एक ही बात मन में चुभती थी कि दो-तीन दिनों की उस अत्यन्त अपनत्व-भरी ज़िन्दगी के बावजूद चित्रा मुझसे खुल नहीं पाई थी। मैंने सोचा था कि यह उसका सहज संकोच ही होगा। वैसे उसने अपने घर-द्वार की तमाम बातें की थीं, पर जब भी मैं उसके निकट आकर कंधे पर या कहीं और हाथ रख कर बात शुरू करता, तो वह सकुचाने लगती। मेरा स्पर्श पाते ही जैसे उसका शरीर पसीजने लगता था और बड़ी मोहक-सी गंध उसके बदन से उठती थी। बहुत-बहुत देर तक मैं उसके अंग-प्रत्यंग को देखता रहता। उसके पैरों के नाखूनों को देखता—हथेलियां हाथ में लेकर अंगुलियों को निहारता और जब उसकी आंखों में झांकता तो वे आखें एक क्षण बाद ही झपक जातीं। कभी उसका पल्ला कंधे से नीचे सरकने लगता, तो वह सावधानी से उसे रोक लेती और साड़ी की किनारी आधी खुली बांहों और पैरों तक खींचकर ठीक कर लेती। उसका यह संकोच मुझे कुछ-कुछ भाता था, पर किसी क्षण बहुत अजीब-सा लगने लगता। आखिर मुझसे शरम क्या थी? और कैसी शरम?

जब मैं उसके पास न होता, तो सुमत और बहनों से वह घिरी रहती। इनके बीच जितने खुलेपन से वह पेश आती, उससे मुझे थोड़ी राहत भी मिलती, पर साथ ही तकलीफ भी होती। इतने दिनों के बीच कई बार ऐसा हुआ कि मैं भीतर कमरे में पहुंचा तो वह बाल काढ़ रही थी। मेरे पहुंचते ही वह बाल लपेट लेती और साड़ी ठीक करके खड़ी रहती या बैठ जाती। उसके लम्बे-भूरे बालों को छूने को मेरा मन

ता, पर उसका वह दुराव मुझे अपने में ही सीमित कर देता—
ता कि मैंने वाल छुए तो चित्ता घंटों कांपती रहेगी ।

लेकिन एक दिन पहुंचा तो देखा कि वह वाल काढ़ते-काढ़ते सुमंत से वात कर रही है—और सुमंत पलंग की पाटी पर वैठा पैर हिला रहा है । मेरे घुसते ही चित्ता ने हमेशा की तरह अपने विन-कढ़े वाल लपेट लिए और कंघे में उलझे वालों को लपेटती हुई खिड़की के पास फेंकने के लिए चली गई । उस वक्त मुझे वहुत वुरा-सा लगा था और सुमंत का वहां होना मैं वर्दाश्त नहीं कर पाया था । सुमंत के चेहरे पर कोई अचकचाहट नहीं थी । उसने वड़ी सरलता से पूछा था, "भैया, आप तार दे आए ?"

"हां ।" मैंने अपने में घुटते हुए कहा था, क्योंकि उस क्षण मैं चित्ता को खवर देने ही आया था कि उसकी विदा के लिए मैंने वावूजी की आज्ञानुसार तार दे दिया है और कल तक उसका भाई विदा कराने के लिए आ जाएगा । यह वात कहकर मैं चित्ता से सचमुच कुछ ऐसा सुनना चाहता था कि जो एक वार मेरे मन को प्यार से भर दे ।

मैं उसे वांहों में भरकर यह सूचना देते हुए पूछना चाहता था कि क्या सचमुच उसका जाने को मन है ? और उससे सिर्फ एक 'नहीं' सुनना चाहता था—और फिर तमाम अन्य वातें ।

पर सुमंत ने जिस सहजता से तार वाली वात पूछी थी, उससे मेरा सारा उत्साह ही ठंडा पड़ गया था और यह वात मैं वर्दाश्त नहीं कर पाया था कि उसने मुझसे पहले ही पहुंचकर यह सूचना चित्ता क
दे दी है और मुझसे वह वेहद प्यार-भरा और संवेदन-शील क्षण छी
लिया है, जिसकी तलाश में मैं उस वक्त पहुंचा था ।

वह क्षण खो चुका था—उस क्षण की संवेदना समाप्त हो
थी और अव मेरा कहना कोई मतलव नहीं रखता था । उस
अपनत्व-भरे क्षण को खोकर मुझे वहुत पीड़ा हुई थी । और तभी

बार मुझे सुमत से ईर्ष्या हुई थी—कुछ-कुछ नफरत भी।

कुछ देर बाद सुमत चाय लाने की बात कहकर चला गया था और मैंने चित्रा से कहना चाहा था कि यह सब मुझे बहुत अच्छा नहीं लगता, पर अपने छोटेपन के उघर जाने के खयाल से मैं चुप ही रहा था।

"तुम्हारे भाई साहब शायद कल शाम या परसों सुबह तक आ जाएं। परसों ही तुम्हारी विदा की तिथि निकली है..." बहुत मरे हुए लहजे में मैंने यह सूचना चित्रा को दे दी थी। फिर भी उम्मीद थी कि चित्रा अपनी तरफ से कुछ कहेगी—उलहना-भरी नज़रों से मुझे ताकेगी या शायद यही पूछ बैठे कि मैं क्यों उसे इतनी जल्दी भेज देने को तैयार हो गया हूं, पर उसने यह सब नहीं कहा। धीरे से बोली, "भाई साहब तो शायद नहीं आ पाएंगे, वे तो अब तक जयपुर लौट गए होंगे। ज़्यादा *छुट्टी नहीं थी उनकी। शायद मामा जी और छोटा भैया आए...*"

"तो चली जाओगी?" जो बात मैं उससे सुनना चाहता था, वही मैं खुद बोल गया था।

"यह तो आप पर है।" चित्रा ने कहा था, "तार तो वे ही आए आप..."

पता नहीं क्यों, उस पल मुझे यह भी लगा कि वे सब सवाल जो मैं चित्रा से पूछने वाला था और उनका जो जवाब मैं सुनना चाहता था, वह सब पहले ही चुक गया है और तार देकर मैंने कुछ ज़्यादती की है—चित्रा और सुमंत के प्रति।

और पहली बार उस दिन मुझे अपने और चित्रा के बीच एक हलकी-सी छाया मंडराती दिखाई दी थी। उसे मैं सह नहीं पाया था। तब शाम थी। चित्रा मेरे साथ अकेली थी और तब अपने को बहुत संभालते हुए, मैंने घूम-घुमाकर चित्रा से यह सवाल पूछा था, "चित्रा! किसी और को प्यार किया है कभी?"

"आपने किया होगा···" वह वैसे ही बोली थी, जिसमें कहीं भी ईर्ष्या, जानने की उत्सुकता और प्रश्न पूछने या उत्तर पाने का चाव नहीं था। मैंने एक बार बहुत गहराई से उसे ताका था तो उसने जैसे हलके मज़ाक में बात दोहराई थी, "बताइए।"

तब इस एक शब्द ने मुझे जैसे डूबते से बचा लिया था और मैंने बहुत अपनेपन से कहा था, "तुम्हें तो बहुतों ने चाहा होगा—मेरी बात छोड़ो···"

तभी सुमंत आ गया था चाय लेकर। आते ही बोला, "लो भइया, चाय पी लो, बड़ी मुश्किल से तीन प्याले झटककर लाया हूं···"

चित्रा ने चाय बनाकर पहला प्याला मेरी ओर बढ़ा दिया था, तो मुझे अच्छा-सा लगा था। हम तीनों बैठे चाय पीते रहे थे, और तब सुमंत को इतने निकट से देखते हुए मुझे कुछ देर पहले के अपने ओछेपन पर बड़ी ग्लानि हुई थी।

चाय पीते हुए सुमंत ने चित्रा से कहा था, "तो भाभी, आप तो परसों चली जाएंगी···उसके दो दिन बाद मैं भी दिल्ली वापस लौट जाऊंगा, फिर पता नहीं कब मिलना हो···" सुनकर चित्रा कुछ बोली नहीं थी तो सुमंत ने आगे कहा था, "भैया, आप भाभी को लेकर दिल्ली आइए न। कुछ दिनों का सैर-सपाटा रहेगा—लालकिला, कुतुब तो देखा होगा, भाभी?"

चित्रा ने सिर हिलाकर न कर दिया था।

"तब तो आपको ज़रूर आना चाहिए।" वह मुझसे बोला था। मैंने 'हां' कर दी थी, जिसका कोई मतलब नहीं था।

तीसरे दिन चित्रा की विदाई हो गई थी और उसके बाद बचे हुए मेहमान भी चले गए थे। सुमंत भी चला गया था। मामा के घराने में अकेला सुमंत ही ऐसा था, जो इधर-उधर रिश्तेदारियों में आता-जाता

था, नहीं तो उनके यहां से किसी का आना-जाना नहीं हो पाता। मामा को लकवा मार चुका है और सुमंत के बड़े भाई जयंत उधर भोपाल में कोई बड़े अफसर हैं, इसलिए उनका आना-जाना होता नहीं, और वे ज्यादा मिलनसार भी नहीं।

लखनऊ से चित्रा के बड़े प्यार-भरे खत आते रहे। एकाध में यह सूचना भी रहती कि बनारस से बड़ी दीदी या दिल्ली से सुमंत का पत्र भी मिला था…बाकी अपनी बातें रहतीं।

कभी कुछ अजीब-सा भी लगता कि सुमंत ने मुझे पत्र क्यों नहीं लिखा, लेकिन फिर यही सोचकर रह जाता कि दीदी ने भी तो नहीं लिखा—इसमें ऐसी क्या बात है।

घर में सन्नाटा छाया रहता। कभी-कभार शाम को बाबूजी खाट पर लेटे-लेटे मां को उन खतों का मजमून सुनाते, जो उन्होंने सरला की शादी के लिए भेजे होते। जब कोई जवाब आ जाता तो घण्टों उसपर बहस होती। दूर-दूर की रिश्तेदारियां निकाली जातीं और घर-घराने की चर्चा होती रहती।

बाबूजी ने इसी आसरे पर मेरी शादी की थी कि जो कुछ थोड़ा-बहुत आएगा, उससे सरला की शादी में मदद मिलेगी। शादी में जो सामान वगैरह आया था; मां ने उसे बहुत सहेज कर रख दिया था। खास तौर से ऐसा सामान जो सरला की शादी में काम आ सकता था।

चित्रा के आने से घर में एक रौनक-सी आ गई थी। मां जो भी काम अधूरा छोड़ती, वह चित्रा के ऊपर छोड़ दिया जाता कि वह आकर कर लेगी, या वही इसकी देखभाल करेगी।

कभी-कभी बाबूजी कह भी देते, "नरेश की मां, चित्रा इतनी पढ़ी-लिखी है, उसका मन तुम्हारे इन कामों में नहीं लगेगा…"

"वो ऐसी लड़की नहीं है। पढ़ी-लिखी चाहे जितनी हो, पर घर के

म सब लड़कियां करती हैं···समझे !" मां कहतीं।

उन्हीं दिनों सुमंत का एक खत आया था, बाबूजी के नाम। उसने रला के लिए कोई खाता-कमाता लड़का सुझाया था। यह भी लिखा था कि अगर चाहें तो आकर देख जाएं, और लड़का पसन्द आए तो तय भी कर लें।

दिल्ली जाने की बात पक्की हो गई थी और मैं भी तैयार हो गया था, क्योंकि अपनी तरक्की के मामले में मैं कई बार डायरेक्टरेट को लिख चुका था, पर कोई सुनवाई नहीं हुई थी। शादी के बाद से इलाहाबाद मुझे छोटा शहर लगने लगा था। कभी सोचता कि चित्रा को लेकर कहां जाऊंगा ? कोई जगह ही नज़र नहीं आती थी। ले-दे के सिविल लाइंस थी, वहां भी कोई ऐसी जगह नहीं थी, जहां निश्चित होकर घूमा जा सके···या अगर घूमें तो किसीकी नज़र न पड़े। लेकिन वहां तो नज़रें ही नज़रें थीं और उनसे बच निकलने का कोई रास्ता नहीं था। वहां बीवियों को लेकर घूमने का रिवाज भी नहीं था। वह उस शहर के मिज़ाज के खिलाफ बात थी।

उन्हीं दिनों चित्रा का एक पत्र आया था, तो मैंने उसे कई बार पढ़ा था। उसने पहली बार अपने घर में उकताहट महसूस की थी और लिखा था—"यहां अब दिल बिलकुल नहीं लगता। पढ़ाई भी अब खत्म होने को आ रही है। मार्च में परीक्षाएं हो जाएंगी। उसके बाद लम्बे-लम्बे दिन होंगे—उदासी से भरे हुए। तब क्या करूंगी ! घर वाले अभी भेजने को भी तैयार नहीं हैं। कोई ऐसा रास्ता नहीं हो सकता कि आ किसी तरह अगस्त से पहले मुझे बुलवा लें ? सच मानिए, अब दिल न लगता। रेडियो पर जब आपकी आवाज़ सुनती हूं तो मन और भी अ लाने लगता है। कभी आपने सोचा है कि कोई एक आपकी आव सुनने के लिए कितना व्याकुल रहता है ? रेडियो पर तो आपकी आ और भी अच्छी हो जाती है। कितनी गहराई आ जाती है उ

आपको तो कभी मेरी याद भी नहीं आती होगी। वहां साथ में इतनी लड़कियां जो हैं···भला क्यों याद आएगी मेरी?···आपका तबादला यहां लखनऊ भी तो हो सकता है। देखिए, कुछ और मत समझिएगा, यह तो मैंने यों ही लिख दिया है।—सुमत का खत आया था। वे दिल्ली की रौनक से घबराए हुए हैं।—आप बीबीजी के सिलसिले में कब दिल्ली जा रहे हैं? क्या यह सम्भव नहीं कि मैं दो-चार दिनों के लिए आपके साथ दिल्ली जा सकूं? आपके साथ होने का सौभाग्य न जाने कब मिलेगा···"

खत को कई बार पढ़ा था और मन में आया था कि लखनऊ से चित्रा को लेता हुआ दिल्ली निकल जाऊं। लेकिन सम्भव नहीं था। बाबूजी से मैं *यह कह नहीं सकता था, और फिर खर्चे की बात भी थी।* चित्रा को साथ ले जाने का मतलब था—सौ रुपया और। फिर ठहरने-ठहराने की दिक्कत भी उठती। हम लोगों का क्या था। सुमत के पास भी ठहर सकते थे और स्टेशन पर रिटायरिंग रूम में भी। चित्रा को ले जाना मुमकिन नहीं था; इसलिए बहुत संभालकर मैंने उसे पत्र लिख दिया था और यह भी कि वह मन लगाकर पहले परीक्षाएं दे ले, उसके बाद कोई लम्बा-सा घूमने का प्रोग्राम बनाया जाएगा। और अपनी रौ मे, बिना किसी सिर-पैर के मैंने यह लिख दिया था कि बहुत मुमकिन है, मेरा तबादला दिल्ली ही हो जाए, क्योंकि यहां इलाहाबाद मे प्रमोशन का कोई मौका नहीं है। मुझे प्रमोशन मिलने वाला है और तब मेरा तबादला भी कहीं न कहीं होगा। अफवाह यही है कि मुझे दिल्ली भेजा जाएगा। अच्छे एनाउंसर को फौरन दिल्ली बुला लिया जाता है—वहां तो मैं जल्दी ही न्यूज रीडर भी बन सकता हूं। यहां भी तो कभी-कभी प्रादेशिक समाचार पढने पड़ जाते हैं। जब-जब मैंने प्रादेशिक समाचार पढे हैं, ड्यूटी आफीसर ने 'ए' दिया है। अगले दिन की मीटिंग में भी हमेशा तारीफ हुई है। सभी साथी यही कहते हैं कि मुझे दिल्ली जरूर जाना चाहिए। अगर तबादला न भी हो, तो भी मुझे कोशिश करके दिल्ली पहुंचना चाहिए।

पहुंचने पर और तमाम रास्ते खुल जाएंगे। अगर न्यूज़ रीडर वाले लेक्शन में किसी वक्त आ गया तो देवकीनन्दन पाण्डे जैसी शोहरत ते देर नहीं लगेगी...

और सचमुच मैं उन दिनों इसी तरह के सपने देखा करता था। लगता था कि वेहतर दुनिया के दरवाज़े मेरा इंतज़ार कर रहे हैं जिन्हें मुझे खोलना है और वे दरवाज़े दिल्ली में ही हैं। इलाहावाद में अव कुछ और होता दिखाई नहीं पड़ता था। वहां की एकरसता भी खलने लगी थी। वही छोटा-सा रेडियो स्टेशन और लम्वी—दूर तक जाती हुई थार्नहिल रोड...

रेडियो स्टेशन के वाहर शीशम के पेड़ों तले वनी हुई एकाध दुकानें, जहां से कभी-कभार एकाध सिगरेट ले ली या गर्मी के कारण किसी खुले हुए पंक्चर को फिर वनवा लिया। या फिर लकड़ी की वेंचों पर वैठकर किसी दोस्त के साथ चाय पी ली।

शादी के वाद से तो मैं और भी अकेला महसूस करने लगा था। लगता था जैसे दुनिया ही वदल गई है। दोस्तों का रवैया वदल गया था। उन्हें लगता था कि मैं उनके साथ-लायक नहीं रह गया हूं। पता नहीं क्यों, वरावर यही लगता था कि अव चित्रा को लेकर इलाहावाद में रहना नहीं हो पाएगा। अगर हुआ भी तो हम वहां घुट-घुटकर ही रहेंगे और आठ-दस वच्चों के वाप वनकर एक दिन श्मशान चले जाएंगे।

रेडियो स्टेशन पर भी मन नहीं लगता था। रेडियो एक सुहावना ढोल था, जिसे दूर से सुनकर सव खुश होते थे, पर उसके भीतर जो पोलें थीं, वे हम लोग ही जानते थे। मेरी नौकरी ऊपर से चाहे जैसी लगती हो, पर मैं वहां एक दिन के लिए भी सुरक्षित महसूस नहीं करता था।

हम स्टाफ आर्टिस्टों की वड़ी पतली हालत रहती है। हर वेइज़्ज़ हमें सहनी पड़ती थी और ज़रा-ज़रा-सी वातों पर नीचा देखना प

था। इसके बावजूद नौकरी का कोई ठिकाना नहीं था…

चित्रा और उसके घरवाले बड़े गर्व का अनुभव करते थे कि मैं रेडियो में हूं, पर भीतरी हालत मैं ही जानता था। रेडियो ने सभी को इतना निकम्मा कर दिया था कि कोई भी कहीं और काम लायक नहीं रहा था। वहां रहते-रहते मेरे भीतर का इनसान भी मरता जा रहा था और उसके साथ-साथ मैं चुकता जा रहा था। तनख्वाह भी कोई अच्छी नहीं थी। पर इलाहाबाद जैसे सस्ते शहर में उतनी तनख्वाह से गुजारे की बात सोची जा सकती थी। दिल्ली जाते मुझे यही डर लगता था कि इतने कम पैसों में वहां गुजारा कैसे होगा?

फिर भी एक सपना था आंखों में—शायद वह पूरा हो जाए और मेरी किस्मत का सितारा चमक जाये। और कुछ न भी हुआ तो कम से कम वहां चित्रा तो कुछ काम कर ही सकती थी। उसने इतना जो पढ़ा-लिखा था, उसका कुछ फायदा तो उठाया ही जा सकता था।

सुमंत का दूसरा खत आते ही मैं और बाबूजी चल पड़े थे। वहां दोनों ही काम हो गए थे। लड़का भी तय हो गया था और मेरे तबादले की बात भी पक्की हो गई थी। बाबूजी ने काफी आनाकानी के बाद मेरा दिल्ली जाना मंजूर कर लिया था, इस शर्त के साथ कि अभी चित्रा उन लोगों के पास वहीं इलाहाबाद में रहेगी, ताकि वह घर में रस-बस जाए। लेकिन मैं जानता था कि यह होगा नहीं। चित्रा वहां अकेले रहना पसंद नहीं करेगी।

पांचवां महीना समाप्त होते-होते सरला की शादी हुई। सरला के पति की नौकरी अहमदाबाद में लग गई थी और शादी होते ही वह अपने पति के पास रहने चली गई थी। सरला की शादी के बाद घर की हालत बहुत नाजुक हो गई थी। रिटायर हो चुकने के बावजूद बाबूजी को मजबूरन नौकरी खोजनी पड़ी थी, और इसमें मदद मिली थी सुमंत के बड़े ई जयंत से। उन्होंने भोपाल में किसी ठेकेदार के पास ढाई सौ रुपये हवार पर उन्हें लगवा दिया था और इस तरह हमारा आधा घर खड़कर इलाहाबाद से भोपाल चला गया था। और कोई चारा भी नहीं था। मुझे कुल दो सौ मिलते थे, उसमें पूरे घर का गुज़ारा नहीं हो पाता था। उसके बाद मैंने फिर दौड़-भाग करके अपना तबादला दिल्ली करा ही लिया था। इलाहाबाद छूट गया था।

शुरू-शुरू में आकर मैं सुमंत के पास ही ठहरा था। और को ठिकाना नहीं था। सुमंत कुतुब रोड पर आराम नगर के एक निहा गंदे कमरे में रहता था। सीलन-भरा वह कमरा पसीजता रहता थ उन दिनों वह किसी प्रेस से निकलनेवाली एक निहायत सस्ती पत्रिका में काम करता था और जैसे-तैसे अपना खर्चा चलाता था।

पहली बार जब चित्रा आई तो उसी एक कमरे में हम तीनों को टिकना पड़ा। खाना वगैरह बनाने की जगह नहीं थी, पर चित्रा की वजह से अब होटलों या ढाबे में खाना मुमकिन नहीं था, इसलिए रोज खिचड़ी या पराठों का भोजन होने लगा। पहले दिन जब मैं चित्रा को लाया था तो कमरा और जगह देखकर वह बहुत उदास हो गई थी। उसका मुंह ही उतर गया था। फिर धीरे-धीरे उसने कमरे की सफाई वगैरह कर डाली थी।

जब भी मैं ड्यूटी से लौटता तो देखता कि सुमंत और चित्रा साथ-साथ किसी काम में लगे हुए हैं। अगर वह खाना पका रही है तो सुमंत बैठा सलाद ही बना रहा है। या सुमंत दीवार में कोई कील गाड़ रहा है तो चित्रा उसका स्टूल पकड़े खड़ी है। खिड़कियों और दरवाज़े के लिए सुमंत पर्दे का कपड़ा भी ले आया था और चित्रा ने सामने वाली दर्जिन से सिलवाकर, उन्हें सुतली में पिरोकर, टाग भी लिया था।

धीरे-धीरे चित्रा की उदासी उड़ती गई थी और वह उस गंदे कमरे में ही काफी खुश नज़र आने लगी थी। सुबह सबसे पहले चित्रा उठती थी, उसके बाद सुमंत और उसके बाद मैं। मेरे उठने तक वे दोनों एक बार चाय बनाकर पी चुके होते और दिन-भर के काम की फेहरिस्त भी बना चुके होते थे।

चित्रा जिन दिनों आई थी, उन दिनों बारिश शुरू हो चुकी थी। बड़ी घनघोर बारिश हुई थी और हमारे कमरे की दीवारें नम हो गई थीं। सीमेंट जगह-जगह से उखड़ गया था, जिसकी वजह से उनमें से पानी छनता था। सड़ते कूड़े और मलबे की महक से दिमाग भन्नाने लगता था। भीगे कपड़ों की बदबू से माथा चकराने लगता था और गीले तौलिये से बदन पोंछते-पोंछते सभी के तनों से बदबू फूटने लगी थी। बदबू मारने के लिए अगर ऊपर से ढेर-सा पाउडर छिड़क भी लिया, तो वह तेज महक और भी असहनीय हो जाती थी और कुछ ही